मूक-सत्संग और नित्य-योग

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है)
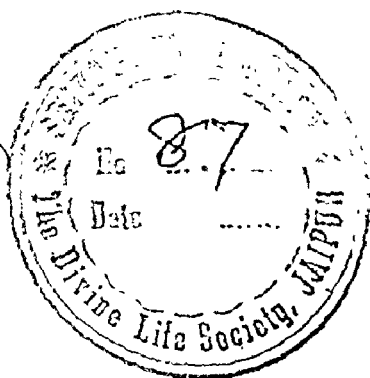
मेरे नाथ
आप अपनी
सुधामयी
सर्व समर्थ
पतित पाविनी
अहैतुकी कृपा से
दुःखी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल
एवम्
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें
जिससे वे
सुख दुःख के
बन्धन से
मुक्त हो
आपके पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर
कृत-कृत्य हो जायँ

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

रहती है जिसके अनुसार जीवन की प्राप्ति में सभी मानव समान रूप से स्वाधीन हैं। प्रतीति के क्षेत्र में भले ही विषमता प्रतीत होती हो पर सत्य की प्राप्ति में पूर्ण साम्य है।

इस आधार पर मानव-जीवन की मौलिक माँग की पूर्ति के लिये एक ऐसे उपाय की खोज की गयी है जो प्रत्येक देश, काल, मत, संप्रदाय और विभिन्न रुचि, योग्यता एवं सामर्थ्य के व्यक्तियों के लिये समान रूप से कारगर हो सके।

उसकी खोज का परिणाम है :—"मूक-सत्सङ्ग तथा नित्य-योग।" मूक-सत्सङ्ग का अर्थ है श्रम-रहित होकर सत् का संग करना। सत् का संग अर्थात् अविनाशी का सङ्ग; जो 'है' उसका संग। इस प्रकार मूक-सत्सङ्ग के द्वारा नित्य-योग प्राप्त करना ही वास्तविक सत्संग है। नित्य-योग का अर्थ है—अविनाशी-योग। नित्य-योग की प्राप्ति का अर्थ है—नित्य-जीवन, नित्य-जागृति एवं नित्य-नव-प्रियता की प्राप्ति—जो एक मात्र मूक-सत्संग से साध्य है।

मूक-सत्संग सजगता का आरम्भ है और नित्य-योग उसकी अन्तिम परिणति है। मूक-सत्संग की पूर्णता में नित्य-योग सिद्ध है।

यों तो प्रचलित प्रथा में सत्-चिंतन और सत्-चर्चा को भी सत्संग ही कहते हैं। परन्तु सत्-चर्चा और सत्-चिंतन सत्संग नहीं है। सत्-चर्चा तथा सत्-चिंतन सत्संग की तीव्र अभिरुचि जगाने में सहायक हैं। वह भी तब, जब सत् का अभिलाषी चर्चा और चिंतन जनित क्रिया में आसक्त न हो अपितु चर्चा और चिंतन का उपयोग सत् की भूख जगाने में ही करे। सत् की तीव्र माँग स्वतः साधक को असत् से असंग कर सत् से अभिन्न करती है। सत्-चर्चा तथा सत्-चिंतन असत् (शरीर आदि वस्तुओं) के आश्रय से होता है,

जिससे सत् के जिज्ञासु की जातीय भिन्नता है। सत् के जिज्ञासु के लिये असत् का आश्रय असह्य हो जाता है। अतएव सत्-चर्चा तथा सत्-चिंतन सत्संग नहीं हैं।

सत्संग का अर्थ बताया गया है :—

(i) असत् को जान कर उसके संग का त्याग करना;

(ii) जो 'है' उसको मान कर उसकी आस्था स्वीकार करना;

(iii) श्रम रहित होकर अविनाशी-जीवन की ओर गतिशील होना।

अत: सत्संग स्वधर्म है जो केवल अपने ही द्वारा सम्भव है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग ही वास्तविक सत्संग है।

प्रस्तुत पुस्तक में मूक-सत्संग को आप तीन रूपों में पायेंगे :—

(क) मूक-सत्संग सभी साधनों की भूमि है।

(ख) मूक-सत्संग मूल साधन भी है।

(ग) मूक-सत्संग में सभी साधनों की परावधि भी है।

(क) साधक के जीवन की पहली आवश्यकता है कि वह कुछ क्षणों के लिये श्रम-रहित हो जाया करे; कारण, कि प्रवृत्ति में रत्त रहते हुए व्यक्ति अपनी दशा से भली भाँति परिचित नहीं हो सकता, अपनी माँग का पता नहीं लगा सकता और अपने दायित्व को जान नहीं सकता जिस के विना अपने को साधन-युक्त बना नहीं सकता। परन्तु श्रम-रहित होकर वह अपनी दशा का अनुभव कर अपनी वास्तविक माँग से परिचित हो सकता है। भूतकाल की घटनाओं तथा प्रवृत्तियों का अध्ययन कर सकता है। अपनी की हुई भूलों को जान कर उन्हें मिटा सकता है। जानी हुई भूलों को पुन: न दोहराने का व्रत लेकर वर्तमान निर्दोषता को सुरक्षित रख सकता

है। भूल रहित होने से असाधनों का नाश अपने आप होता है और निर्दोष जीवन में परम् शान्ति की अभिव्यक्ति अपने आप होती है। उस शान्ति में से सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है जो व्यक्ति को कर्तव्य-परायण बनाती है। उसी शांति में से विचार का उदय होता है जो बोध कराता है और उसी शान्ति में से अखण्ड स्मृति जाग्रत होती है जो प्रेम तत्व से अभिन्न करती है। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, विचार का उदय और अखण्ड स्मृति साधन हैं। अतः विश्राम सभी साधनों की भूमि है।

(ख) श्रम-रहित जीवन की शांति में जो साधन अपने आप अभिव्यक्त होते हैं, उन साधनों को करना नहीं पड़ता, वे स्वतः होते हैं। उन्हीं साधनों से साधकों की एकता होती है और साध्य से अभिन्नता होती है जो नित्य-योग है। इस दृष्टि से श्रम-रहित होना मूल साधन भी है।

(ग) प्राप्त विवेक का आदर न करना, मिले हुए को अपना मानना, और उसका दुरुपयोग करना तथा सुने हुए प्रभु में आस्था न करना असत् का सङ्ग है। असत् को जानकर उसका त्याग किये बिना विश्राम नहीं मिलता। अतः अपने जाने हुए असत् के सङ्ग का त्याग विश्राम में हेतु है।

निज विवेक के प्रकाश में यह अनुभव होता है कि देह से नित्य सम्बन्ध नहीं है; कारण, कि देह के परिवर्तन और उसके अदर्शन का ज्ञान है। फिर भी प्रमाद वश हम निज अनुभव का अनादर करके 'मैं देह हूँ', 'देह मेरी है' ऐसी स्वीकृति रखते हैं। देह में अहं और मम्-बुद्धि स्वीकार करने का ही यह दुष्परिणाम होता है कि भोग-वासनाओं की उत्पत्ति होती है। वासनाओं के रहते हुए विश्राम नहीं मिलता।

प्राप्त विवेक के प्रकाश में हम यह भी अनुभव करते हैं कि वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि जो कुछ मिला है अपना नहीं है और अपने लिये नहीं है क्योंकि उन पर हमारा नियंत्रण नहीं है। इतना जानते हुए भी मिले हुए को अपना तथा अपने लिये मानते रहने से लोभ, मोह आदि विकारों की उत्पत्ति होती है। हम वस्तु और व्यक्ति की दासता में आबद्ध हो जाते हैं। लोभ और मोह से पीड़ित तथा वस्तु और व्यक्ति की दासता में आबद्ध व्यक्ति विश्राम नहीं पा सकता। अत: विश्राम पाने के लिये यह अनिवार्य है कि हम देह में अहं और मम्-बुद्धि न रखें। मिले हुए को अपना तथा अपने लिये न मानें, उसका दुरुपयोग न करें अपितु उसे जगत की सेवा में लगाकर वस्तु और व्यक्ति के लोभ तथा मोह से रहित हो जायँ अर्थात् जाने हुए असत् के सङ्ग का त्याग कर दें।

देह में अहं और मम् बुद्धि न रहने पर निर्वासना आती है। मिले हुए की ममता और कामना का त्याग कर देने पर निर्लोभता और निष्कामता की अभिव्यक्ति होती है। निर्लोभता, निष्कामता, निर्वासना आदि साधन हैं। इन साधनों की पूर्णता में चिर-विश्राम और चिर-विश्राम में नित्य-जीवन तथा नित्य जाग्रति निहित है जो नित्य-योग है।

सत् है, इस आस्था के द्वारा भी निर्भयता, निश्चिन्तता आदि की अभिव्यक्ति होती है। आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक 'है' की शरणागति स्वीकार करके भी व्यक्ति चिर-विश्राम एवं परम्-प्रेम पाता है जो नित-नव-अगाध, अनन्त प्रियता का स्रोत है। इस दृष्टि से मूक-सत्सङ्ग सभी साधनों की भूमि भी है और इसी मूक-सत्संग में सभी साधनों की परावधि भी है।

(i) जाने हुए असत् के सङ्ग का त्याग करना;

उलटा प्रभाव उत्पन्न करती है। इसलिये न चाहने तथा न करने पर भी जो व्यर्थ चिंतन उत्पन्न हुआ है उस का न समर्थन करना है और न विरोध, अपितु उससे असहयोग रखना है। जिससे असहयोग हो जाना है उस का प्रभाव अपने पर नहीं रहता। उस से सम्बन्ध टूट जाता है। असहयोग विरोध नहीं है। विरोध से द्वेष और समर्थन से राग की उत्पत्ति होती है। असहयोग से राग-द्वेष नाश हो जाता है। अतएव अपने आप होने वाले व्यर्थ-चिंतन से असहयोग रखना है और कुछ नहीं।

बलपूर्वक मानसिक हलचल को रोकने के प्रयास में व्यक्ति अधिकाधिक श्रमित होता है। व्यर्थ-चिंतन को किसी सार्थक-चिंतन द्वारा दबाने का प्रयास करने से व्यर्थ चिंतन का नाश नहीं होता। यह भी एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जिन मानसिक क्रियाओं को किसी अन्य क्रिया के द्वारा दबा दिया जाता है वे मिटती नहीं हैं; और भी अधिक वेग से प्रकट होना चाहती हैं और होती हैं; इस संघर्ष में मानसिक शक्ति की बड़ी क्षति होती है, विश्राम नहीं मिलता। असफलता से क्षुब्ध होना तथा विश्राम पाने से निराश होना भी साधन-पथ की बड़ी भारी बाधा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह सभी अवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएँ अवांछनीय हैं। इन के द्वारा विश्राम नहीं मिलता है। मूक-सत्सङ्ग सम्पादित नहीं होता है।

फिर इन प्रतिक्रियाओं को साधक इसलिये करते हैं कि सूक्ष्म शरीर के व्यापारों की वैज्ञानिक व्याख्या उन्हें मालूम नहीं है। व्यर्थ-चिंतन की उत्पत्ति पर उन्होंने कभी विचार नहीं किया, उसके नाश का बाहरी उपचार करते रहते हैं जो सदा ही विपरीत प्रभाव उत्पन्न करता है।

साधकों को इन कठिनाइयों से बचाने के लिये मूल पुस्तक में

व्यर्थ-चिंतन का बहुत ही वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है और उपयुक्त वैज्ञानिक उपाय बताये गये हैं। प्रत्येक बात (point) बहुत ही युक्ति संगत (logical) एवं प्रभविष्णु (convincing) है। सूक्ष्म शरीर को स्वस्थ एवं शांत करने के मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित अनुभूत उपाय बताये गये हैं जिनका अनुसरण करके प्रत्येक व्यक्ति सहज विश्राम पा सकता है।

यथा :—जब हम अपनी ओर से कार्य करना बंद करते हैं तो मस्तिष्क में आगे-पीछे का व्यर्थ-चिंतन आरम्भ होता है। यह व्यर्थ-चिंतन क्या है ?

(क) यह भुक्त अभुक्त का प्रभाव है। हम जो कर चुके हैं; भोग चुके हैं और जो करना तथा भोगना चाहते हैं, उसका प्रभाव मस्तिष्क पर अङ्कित है।

(ख) यह अनुस्मृति (memory) मात्र है। इसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

(ग) अहंकृति काल में जो किये हुए का प्रभाव अंकित है वह स्पष्ट रूप से विदित नहीं होता परन्तु रहता है। जिस प्रकार दबा हुआ रोग विदित नहीं होता उसी प्रकार कार्य में लगे रहने पर जो कर चुके हैं अथवा जो करना चाहते हैं, उसका प्रभाव प्रतीत नहीं होता। अहंकृति रहित होते ही वह प्रभाव प्रगट होता है, मिटने के लिये।

(घ) मस्तिष्क को व्यर्थ की बातों से मुक्त करने की यह एक प्राकृतिक प्रक्रिया (natural process) है। मस्तिष्क में जमा हुए प्रभावों को यदि अभिव्यक्त होने का अवसर मिलता है तो वे प्रगट होकर मिट जाते हैं। परन्तु इस प्राकृतिक तथ्य को न जानने के कारण व्यर्थ-चिंतन को साधक मनोविकार एवं मन की चंचलता

मानता है और उससे क्षुब्ध होकर जल्दी से जल्दी उसे रोकने में बल का प्रयोग करता है। स्पष्ट है कि जो क्रिया मस्तिष्क को स्वस्थ एवं शांत करने के लिये आरम्भ होती है उसको रोककर हम व्यर्थ-चिंतन के नाश में बाधक बनते हैं तथा विश्राम से वंचित रहते हैं। अत: व्यर्थ-चिंतन के नाश के लिये हमें कुछ करना नहीं है। क्योंकि-किसी कृति विशेष से किसी कृति के प्रभाव का नाश नहीं होता। उसका नाश विश्राम से ही होता है।

(ङ) प्राकृतिक नियमानुसार कोई उत्पत्ति ऐसी होती ही नहीं जो स्वत: नष्ट न हो जाय। व्यर्थ-चिंतन उत्पन्न हुआ है, इसलिये अपने आप नष्ट भी होता है।

व्यर्थ-चिंतन के स्वरूप की इस व्याख्या को जानते ही साधक का भय मिट जाता है। व्यर्थ-चिंतन भी एक अवस्था है। यद्यपि व्यक्ति की भूल से यह उत्पन्न हुआ है, फिर भी साधक के जीवन में उससे क्षुब्ध होने का कोई कारण नहीं है प्रत्युत उसका भी उपयोग है।

व्यर्थ-चिंतन का उपयोग क्या है ?

उसका अध्ययन कीजिये। साधन की प्रारम्भिक अवस्था में विश्राम-काल में जब मानसिक हलचल होने लगे और आप उससे असहयोग न कर सकें तो दो-दो, चार-चार मिनट के बाद कुछ क्षणों के लिये अंतर्निरीक्षण (introspection) कीजिये और देखिये कि व्यर्थ-चिंतन में आपके भूत तथा भविष्य के कौन-कौन से चित्र मानस-पटल पर आ रहे हैं। आप पायेंगे कि (१) व्यर्थ-चिंतन आप की डायरी है। उससे विदित होता है कि भूतकाल में आपने क्या-क्या किया है और भविष्य में क्या-क्या करना चाहते हैं। उसके अध्ययन से अपने जाने हुए असत् के संग का ज्ञान होगा। उसका

त्याग कर दीजिये। नवीन प्रभावों का अंकित होना बन्द हो जायगा। भूतकाल की घटनाओं के अर्थ को अपना कर घटनाओं को भूल जाइये। वर्तमान में उनका अस्तित्व नहीं है इसलिये भूत-काल की भूलों को न दोहराने का व्रत लेने से ही वर्तमान निर्दोषता सुरक्षित हो जाती है; (२) व्यर्थ-चिंतन के अध्ययन से आपको यह भी पता चलेगा कि भविष्य में आप क्या-क्या करना चाहते हैं। उनमें जो आवश्यक कार्य जमा हों उनको जान लीजिये तथा प्रवृत्ति काल में उन्हें कर डालिये। जो कर्म-सापेक्ष है वह चिंतन से प्राप्त नहीं होता। इसलिये जो विवेक और सामर्थ्य के अनुरूप वर्तमान आवश्यक कार्य हो उसे कर डालिये। उसके चिंतन से मुक्ति मिलेगी। अनावश्यक कार्य अर्थात् जिसे नहीं कर सकते और जो नहीं करना चाहिये उसके करने का विचार छोड़ दीजिये। उसके चिंतन से मुक्ति मिलेगी। जो करना चाहिये पर आप नहीं कर सकते; ऐसे सामर्थ्य विरोधी शुभ संकल्पों को प्रभु के अथवा जगत् के संकल्प से मिलाकर आप निश्चिन्त हो जाइये, विश्राम मिलेगा। इस प्रकार व्यर्थ-चिंतन के अध्ययन एवं उसके मूल में जो अपनी भूल हो उसके त्याग के द्वारा विश्राम लीजिये।

परन्तु इस बात में सावधान रहना है कि व्यर्थ-चिंतन के अध्ययन को मूक-सत्सङ्ग न माना जाय। इस प्रक्रिया में तल्लीन न हुआ जाय। इसको व्यर्थ-चिंतन के नाश का सहायक अङ्ग माना जाय। मुख्य उपाय तो असहयोग रखना ही है क्योंकि व्यर्थ-चिंतन कोई करता नहीं है, अपने आप होता है। जो अपने आप होता है, जिसे हम करते नहीं हैं, उससे अपना कोई सम्बंध नहीं है। इसलिये उनसे असहयोग रखना अनिवार्य है। हमारा सहयोग पाकर वह पोषित होता रहता है। अतः हमारे असहयोग से उसका नाश

स्वतः होता है। परन्तु हमने सुन रखा है कि निर्विकल्प अवस्था बड़ी ऊँची और अच्छी अवस्था है। उस अवस्था के प्रलोभन में पड़कर हम जल्दी-से-जल्दी मस्तिष्क को निर्विकल्प कर लेना चाहते हैं। अर्थात् निर्विकल्प अवस्था की प्राप्ति का एक नया संकल्प कर लेते हैं। इसी भूल के कारण विश्राम नहीं मिलता। मूक-सत्सङ्ग नहीं होता।

सच बात तो यह है कि मूक-सत्सङ्ग निर्विकल्प अवस्था नहीं है। मूक-सत्सङ्ग सभी अवस्थाओं से असङ्ग होने पर होता है। इसलिये उतावलापन न किया जाय। एक रहस्य समझ लेना है कि व्यर्थ-चिंतन श्रम नहीं है; व्यर्थ-चिंतन से उलझ पड़ने में श्रम है। व्यर्थ-चिंतन हो रहा है, शरीर में—विश्राम संपादित होगा 'स्व' के द्वारा—शरीर में अपने आप होने वाली क्रिया 'स्व' को क्यों श्रमित करेगी ? नहीं कर सकती। परन्तु हम व्यर्थ-चिंतन से असहयोग नहीं रखते, इसलिये श्रमित होते हैं। चूंकि हमारी भूल से व्यर्थ-चिंतन उत्पन्न हुआ है, इसलिये उस अपने आप होने वाली क्रिया को भी हम अपने में आरोपित कर लेते हैं। अतः उससे मुक्त होने के लिये उससे असहयोग रखें।

इस विधि से थोड़ी-थोड़ी देर के लिये विश्राम लें। जब विश्राम-जन्य शांति आने लगे तो उस शांति का भी रस न लें। यहाँ पर भी एक कठिनाई साधक के सामने आती है। जीवन भर भीतर और बाहर के संघर्षों से थका हुआ व्यक्ति जब विश्राम पाता है तो सङ्कल्प-रहित अवस्था की शांति उसे बहुत ही प्रिय लगती है। उस अवस्था को जोरों से पकड़ता है। उस समय उस प्राप्त शांति को अपने सीमित व्यक्तित्व की विशेषता मानने की भूल कर बैठने की संभावना रहती है। मूक-सत्सङ्ग और नित्य-योग के अभिलाषी

अपने लक्ष्य पर अर्थात् नित्य-जीवन, नित्य-जाग्रति एवं अगाध,
न्त प्रियता पर दृष्टि रखनी है। विश्राम से दिव्य गुणों की
भिव्यक्ति होगी परन्तु सजगता पूर्वक उनके रस-भोग से बचना
। इससे नित्य-योग प्राप्त होगा। इसलिये साधक को इस सम्बन्ध
अपनी दृष्टि बहुत स्पष्ट कर लेनी है कि कोई भी अवस्था जीवन
हीं है। नित्य-योग जीवन है और वह नित्य-योग, मूक-सत्सङ्ग द्वारा
ानव मात्र को सुलभ है। उस मूक-सत्सङ्ग से हम विमुख क्यों हैं?
स प्रश्न के उत्तर में कई बातें सामने आती हैं :—

(अ) श्रम-रहित भी जीवन है, इसमें आस्था नहीं है;

(इ) अपने लक्ष्य के सम्बन्ध में निस्संदेहता नहीं है;

(उ) अपने जीवन के महत्व को भुला दिया है;

(ए) सही ढंग से श्रम नहीं करते।

(अ) श्रम का महत्व हमारी दृष्टि में बहुत अधिक है। श्रम के द्वारा भोग सामग्री मिलती है, क्रिया-जनित सुख मिलता है सङ्कल्प उत्पत्ति काल का तनाव (tension) भासित नहीं होता, कर्तृत्व का अभिमान होता है जो अपने सम्बन्ध में बड़प्पन का भाव उत्पन्न करता है। इसलिये जब तक हम कुछ करते रहते हैं तब तक जीवन मालूम होता है। इसलिये कार्य न करने की दशा में कार्यों के फलाफल का चिंतन करते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि जब तक थक कर सो न जायँ तब तक कुछ-न-कुछ करते रहते हैं।

श्रम के द्वारा जो कुछ मिला, उससे अपना अभाव नहीं मिटा। इस बात को जानते हुए भी श्रम-रहित जो नित्य-जीवन है उस पर न तो दृष्टि ही जाती है और न उसमें आस्था ही है। इसलिये विश्राम से विमुखता है।

अपनी दशा का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट विदित होगा कि

बिना विश्राम के श्रम हो नहीं सकता। प्रत्येक प्रवृत्ति के अंत अपने आप निवृत्ति आती ही है। देखने के बाद न देखना, सुनने के बाद न सुनना और बोलने के बाद न बोलना स्वाभाविक है।

स्नायु-मंडल की रचना और क्रिया में भी यह बात पाई जाती है कि जब स्नायु-सूत्र किसी उत्तेजना से उत्तेजित होकर स्नायुविक संक्षोभ (nerve current) के रूप में प्रतिक्रिया करने लगते हैं तो उनके भीतर की शक्ति खर्च होने लगती है। बीच-बीच में ऐसा समय आता है जबकि स्नायु-सूत्रों में प्रतिक्रिया करने की शक्ति नहीं रह जाती। ऐसे समय में स्नायु-सूत्र उत्तेजना के प्रभाव से प्रभावित नहीं होते। यह अवधि बहुत छोटी होती है। इसे absolute refractory period कहते हैं। इसी अवधि में स्नायु-सूत्रों में पुनः शक्ति आती है और वे पुनः प्रतिक्रिया करने में समर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार स्नायु-सूत्रों की क्रियाओं में भी विराम की व्यवस्था है जिसके बिना उत्तेजना की प्रतिक्रिया संभव नहीं है।

मानसिक कार्यों पर होने वाले प्रयोगों में यह पाया गया है कि मस्तिष्क समान रूप से लगातार कार्य नहीं करता। अपने आप विश्राम (automatic rest) ले लेता है। शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान और दैनिक जीवन की अनुभूतियाँ इस बात को प्रमाणित करती हैं कि विश्राम जीवन का अनिवार्य अंग है और श्रम के आदि तथा अंत में स्वभाव से उपस्थित भी है। इसलिये जीवन के इस अनिवार्य पहलु पर दृष्टि रखना तथा इसकी अनिवार्यता में आस्था रखना परम आवश्यक है।

आप कहेंगे इस में कौन सी नई बात है। हम प्रति दिन कार्य करते-करते थकते हैं तो सोकर विश्राम भी लेते ही हैं परन्तु जीवन में कोई विशेषता तो नहीं आई। प्रस्तुत पुस्तक में इस संबंध में

एक बड़ी ही सुन्दर युक्ति दी गई है। यह बताया गया है कि जाग्रत की प्रवृत्ति और स्वप्न के बाद जब प्रगाढ़ निद्रा अर्थात् सुषुप्ति आती है तो हम जड़ता में लय होते हैं। प्रगाढ़ निद्रा से भी शक्ति आती है परन्तु उस शक्ति को लेकर हम पुनः सृष्टि की ओर ही गतिशील होते हैं। जड़ता-युक्त विश्राम मानव को देहाभिमान से रहित नहीं कर पाता। इसके विपरीत यदि जाग्रत-सुषुप्ति को हम अपना लें अर्थात् जाग्रत में ही श्रम-रहित हो जायँ तो अविनाशी जीवन की ओर गति होती है। इसलिये मूक-सत्सङ्ग प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य है। अतः 'कुछ न करने' में नित्य-योग है इसमें आस्था करना अनिवार्य है। स्पष्ट है कि जड़ता-युक्त निष्क्रियता, आलस्य तथा अकर्मण्यता मूक-सत्सङ्ग नहीं है। अहंकृति के नाश द्वारा जाग्रत-सुषुप्ति मूक-सत्संग है। इसलिये मूक-सत्सङ्ग के लिये सही प्रवृत्ति का निषेध नहीं है, प्रत्युत सहज निवृत्ति के लिये सही प्रवृत्ति अपेक्षित है।

करना दोनों ही प्रकार का होता है—भोग की रुचि की पूर्ति के लिये और राग निवृत्ति के लिये। काम से प्रेरित होकर जब हम कुछ करते हैं तो कर्म के अंत में भी कर्म फल के साथ होते हैं अर्थात् असत् के ही सङ्ग रहते हैं। परन्तु जब राग रहित होने के लिये कार्य करते हैं तो कार्य के अन्त में सहज निवृत्ति आती है और उस क्षण हम सत् के सङ्ग होते हैं। इस सम्बन्ध में यह एक बड़ी ही सुन्दर बात बताई गई है कि हम सदा ही सत् के सङ्ग हैं क्योंकि असत् भी सत् के ही आश्रित है। चाह-युक्त व्यक्ति जब थकित होता है तो उसे भी पुनः नई शक्ति सत् से ही मिलती है। अतः चाह रहित होकर श्रम-रहित होते ही सत् का संग होता है और सत्संग से अहं गल कर योग, बोध और प्रेम हो जाता है।

(इ) विश्राम से विमुखता का एक कारण यह भी है कि हम ने अपने जीवन का सही मूल्याङ्कन नहीं किया है। अपने लक्ष्य के सम्बन्ध में निस्संदेह नहीं हैं।

संयोग की दासता और वियोग के भय ने कभी हमें चैन से रहने नहीं दिया, फिर भी 'हमें नित्य-योग चाहिये'—इस बात का स्पष्टीकरण हमने अपने द्वारा नहीं किया। यही कारण है कि विश्राम का महत्व समझ में नहीं आया। उस पर दृष्टि नहीं गई। व्यक्ति अनुकूलता बनाये रखना चाहता है परन्तु इसमें उसका अपना कोई वश नहीं चलता, इसलिये प्रतिकूलता के भय से भयभीत रहता है और वियोग होने पर विह्वल हो जाता है। उस समय अपना जीवन अपने लिये बिलकुल ही अनुपयोगी सिद्ध होता है। इस दशा में वहाँ अपनी माँग का स्पष्ट पता चलता है कि मुझे वह संयोग नहीं चाहिये जिसमें वियोग का भय हो। तब नित्य-योग की आवश्यकता प्रबल हो उठती है जो विश्राम से साध्य है। अतः अपने लक्ष्य का स्पष्टीकरण हो जाने पर विश्राम का महत्व समझ में आता है।

(उ) विश्राम से विमुख रहने का एक मुख्य कारण यह भी है कि हमने अपने जीवन के महत्व को भुला दिया है। प्रस्तुत पुस्तक के प्रणेता ने प्रत्येक खंड में हम लोगों को यह याद दिलाया है कि मानव-जीवन बड़ा ही महत्वपूर्ण है। भोग में जीवन-वृद्धि स्वीकार करने के कारण ही मानव की नित्य-योग से विमुखता हुई है। निज-विवेक के अनादर से ही मानव ने भोग में जीवन-वुद्धि स्वीकार की है। प्राप्त विवेक के प्रकाश का आदर करें तो भोग को त्याग कर, रोग और शोक से रहित हो, चिर-विश्राम पा सकते हैं। इतनी महिमा है इस जीवन की। हमारी एक माँग है। हम पर एक

दायित्व है। दायित्व पूरा करने की सामर्थ्य हमें मिली है। दायित्व हम पूरा कर सकते हैं और माँग पूरी हो सकती है। इसमें मानव मात्र सब प्रकार से स्वाधीन है। अपनी इस महिमा को याद रखें तो विश्राम का मूल्य समझ में आ जाय। भोग की रुचि का नाश हो जाय। सहज विश्राम मिले। नित्य-योग प्राप्त हो।

(ए) विश्राम से विमुख रहने का एक और प्रत्यक्ष कारण मुझे यह दीखता है कि हमें सही ढंग से श्रम करना नहीं आता। श्रम और विश्राम के पारस्परिक सम्बन्ध पर मूल पुस्तक में यथा-स्थान विशद् एवं परम् उपयोगी विवेचन किया गया है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति एक ही जीवन के दो पहलु हैं। सही प्रवृत्ति के अंत में सहज निवृत्ति आती है और सहज निवृत्ति के बाद सही प्रवृत्ति होती है। सही प्रवृत्ति का अर्थ है वर्तमान आवश्यक कार्य को लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए, पवित्र भाव से, फलासक्ति छोड़ कर, पूरी शक्ति लगा कर सही ढंग से करना और अनावश्यक कार्यों को छोड़ देना। सही प्रवृत्ति के अन्त में विश्राम मिलेगा।

परन्तु हम तो सङ्कल्प पूर्ति के लिये, कर्तापन का अभिमान लेकर, क्रिया-जनित सुख का भोग करते हुए कार्य-रत्त रहते हैं। उसी का परिणाम यह होता है कि सही ढंग से कार्य नहीं होता और कार्य के अन्त में विश्राम नहीं मिलता। अतः सहज-निवृत्ति के लिये सही प्रवृत्ति अनिवार्य है।

श्रम में पराश्रय है। शरीर से तादात्म्य किये विना श्रम नहीं होता। श्रम-साध्य जो कुछ है वह अविनाशी नहीं है अतः श्रम-साध्य जो कुछ है वह "स्व" के काम नहीं आता। फिर भी मनुष्य के व्यक्तित्व में भाव और विचार के साथ क्रिया शक्ति भी है और उस शक्ति की उपयोगिता भी है। कर्म-अनुष्ठान की जो कुछ सामग्री

मिली है वह 'पर', के लिये है। इस दृष्टि से सर्वहितकारी कार्यों के संपादन में श्रम किया जाय तो वह सही-प्रवृत्ति होगी। उससे विश्राम में बाधा नहीं होगी।

परिवार, समाज, राष्ट्र और प्रकृति सब से भरण, पोषण, संरक्षण और शिक्षण लेकर व्यक्ति पलता है। उनके राग से रहित होने के लिये उनकी सेवा में श्रम लगाया जाय तो सही-प्रवृत्ति होगी। सेवा के बदले में किसी से कुछ आशा न रखी जाय तो सेवा के अन्त में चिर-शान्ति मिलेगी।

यद्यपि श्रम करने के लिये शरीर का आश्रय लेना पड़ता है और पराधीनता स्वीकार करनी पड़ती है, फिर भी "पर-हित" के लिये इस पराधीनता को स्वीकार किया जा सकता है। इस प्रकार श्रम का महत्व पर-पीड़ा से पीड़ित होकर प्राप्त-सामर्थ्य के सद्व्यय में है। इस श्रम के अन्त में सहज विश्राम स्वतः प्राप्त होता है जो नित्य-योग से अभिन्न कराता है।

श्रम विश्राम की तैयारी है। विश्राम के लिये आवश्यक श्रम का त्याग अपेक्षित नहीं है किन्तु कार्य के अन्त में कार्य से असंग होना अनिवार्य है। इस प्रकार आवश्यक प्रवृत्ति के अंत में आने वाली सहज-निवृत्ति मूक-सत्संग है। मूक-सत्संग में जड़ता नहीं है। उस विश्राम में भी एक गति है। वह गति साधक को जड़ता से चेतना, मृत्यु से अमरत्व और असत् से सत् की ओर ले जाती है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग व्यक्ति के जीवन का परम पुरुषार्थ है जो दिव्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न कराता है।

इस मूक-सत्संग का सम्पादन कैसे हो?

श्रमित होने का मूल कारण अहंकृति है। (१) अहंकृति अहम् का कामयुक्त रूप है और (२) निवृत्ति अहम् का काम रहित रूप

है। 'अहंकृति'—अर्थात् कर्तृत्व का अभिमान, क्रियाजनित सुख का भोग और कर्म के फल में आसक्ति। इसलिये विश्राम पाने का मुख्य उपाय है "अहंकृति का नाश।"

प्रणेता की दृष्टि सदा जीवन की समस्याओं के मूलोच्छेदन पर रहती है। इसलिये सर्व प्रथम उन्होंने अहंकृति के नाश का विषय लिया है। पुस्तक का सबसे पहला वाक्य है **अहंकृति रहित होते ही मंगलमय विधान से स्वतः नित्य-योग की अभिव्यक्ति होती है।**

इस सूत्र की स्थापना के बाद अहंकृति रहित होने के उपायों का विवेचन आरम्भ हुआ है। अहंकृति क्या है? यह क्यों जीवित रहती है? यह कैसे पोषित होती है? अहंकृतिजन्य असाधन किन किन विकारों के रूप में प्रगट होते हैं? उनके क्या-क्या दुष्परिणाम होते हैं? प्रत्येक दशा में अहंकृति-जनित असाधन के नाश के लिये क्या क्या उपाय किये जा सकते हैं? इन खण्डों पर बहुत ही वैज्ञानिक, व्यावहारिक और दार्शनिक-अनुभूत-सत्य के आधार पर आधारित अकाट्य युक्तियों द्वारा समर्थित अचूक उपाय बताये गये हैं जिनका अनुसरण करके साधक सहज-विश्राम पा सकते हैं और नित्य-योग से अभिन्न हो कृत-कृत्य हो सकते हैं।

यद्यपि 'नित्य-योग' की अप्राप्ति से विमुखता का मूल कारण एक ही है:—'अहंकृति का जीवित रहना' और 'नित्य-योग' से अभिन्न होने का मूल उपाय भी एक ही है—'मूक-सत्संग द्वारा अहंकृति का नाश।' फिर भी जिन भूलों से अहंकृति जीवित रहती है एवं पोषित होती है वे भूलें उत्पन्न होती हैं अपने जाने हुए असत् के संग से। इस दृष्टि से अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग परम् पुरुषार्थ है।

किन्तु विवेक के अनादर से "है" में अनास्था एवं अकर्त्तव्यजनित दोष असंख्य रूपों में उत्पन्न होते हैं, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को जड़ता, असमर्थता, नीरसता और प्रभाव से मुक्त कर देते हैं।

किस साधक के व्यक्तित्व में कौन सा असाधन प्रधान रूप से कष्टकारी बन गया है, कौन-सा साधक अपनी माँग को किस रूप में देखता है और उसकी पूर्ति के लिये क्या कर सकता है, यह निश्चित नहीं रहता।

यद्यपि मूल भूल एक ही है और मौलिक माँग भी एक ही है फिर भी व्यक्तिगत भिन्नता के प्राकृतिक तथ्य के कारण व्यक्ति के जीवन में समस्याएँ अलग-अलग रूप धारण करके उपस्थित होती हैं।

चूँकि "मूक-सत्संग और नित्य-योग" के प्रणयन में एक अन्तर्व्यथा है कि प्रत्येक मानव स्वाधीनता पूर्वक अपना हित कर सके, इसलिये मुख्य रूप से सभी सम्भावित असाधनों के पक्ष को लेकर विवेचन किया गया है जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये एक राह निकाल सके जिसे वह अपनी आँखों देख सके और जिस पर अपने पैरों चल सके। 'नित्य-प्राप्त' से 'नित्य-योग' के उपाय बताते समय साधकों के व्यक्तित्व की अनोखी रचना (Unique personality structure) का पूरा ध्यान रखा गया है। प्रत्येक खण्ड में जहाँ विचार पूर्वक असत् के संग के त्याग द्वारा श्रम रहित होकर "नित्य-योग" की प्राप्ति की बात कही गई है वहीं पर, उसी खण्ड में "है" की आस्था के द्वारा प्राप्त "परम्-विश्राम" की बात भी कही गई है। जहाँ प्रतीति के स्वरूप से परिचित होने की बात कही गई है वहाँ वास्तविक जीवन के होने में दृढ़ आस्था की बात भी कही गई है। जहाँ प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग द्वारा सफलता की

बात कही गई है वहाँ असमर्थता की वेदना से भी सफलता मिलती है यह भी कहा गया है। प्रस्तुत पुस्तक के प्रणेता के हृदय में मानव-मात्र की असफलता की पीड़ा है। पुस्तक पढ़ने से ऐसा अनुभव होने लगता है कि विचार-प्रधान विवेचन प्रस्तुत करते करते तुरंत उन साधकों की भी याद आ जाती है जिनके व्यक्तित्व में विश्वास-पक्ष अथवा क्रिया-पक्ष सबल है। वे साधक अधीर न हो जायँ, उन्हें भी राह मिले, "नित्य-योग" की प्राप्ति का उपाय एक देशीय न हो जाय इसलिये विचार, विश्वास और कर्तव्य सभी पहलुओं को बारम्बार उपस्थित करके सब दृष्टियों से नित्य-योग की प्राप्ति के उपाय बताये गये हैं।

मिशन (Mission) तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति में यह स्पष्ट धारणा बन जाय कि अपने विकास में वह पूर्ण स्वाधीन है। इस बात को अपनी बात के रूप में स्वीकार कर लेने के बाद व्यक्ति राह देखे न देखे, चले न चले, उसकी मौज—संत-हृदय तो व्यथित होता है तब, जब उन्हें दिखाई देता है कि मानव अपने विकास के लिये विवश आँखों से, कातर दृष्टि से 'पर' की ओर देखता है और 'अन्य' की ओर चलना चाहता है जहाँ सफलता त्रिकाल में भी संभव नहीं है।

इसलिये बारम्बार इस बात की याद दिलाई गई है कि नित्य-योग के लिये "पराश्रय" अपेक्षित नहीं है, श्रम अपेक्षित नहीं है। श्रम-रहित होकर अर्थात् मूक-सत्सङ्ग द्वारा प्रत्येक मानव स्वाधीनता पूर्वक नित्य जीवन, नित्य जाग्रति एवं नित्य-नव-अगाध-अनन्त, प्रियता से अभिन्न हो सकता है। आज के साधक-समाज में श्रम-साध्य साधन खूब प्रचलित है परन्तु उससे सफलता नहीं मिलती है। इसलिये प्रस्तुत पुस्तक में नित्य-जीवन

की प्राप्ति के लिये श्रम-साध्य प्रयासों को छोड़कर श्रम-रहित होने की बात बारम्बार प्रत्येक खण्ड में बड़े ही ज़ोरदार शब्दों में कही गई है।

परन्तु बड़ी ही सजगतापूर्वक इस बात का ध्यान रखा गया है कि "कुछ न करने" का ग़लत अर्थ लेकर आलस्य एवं अकर्मण्यता का समर्थन न हो जाय, व्यक्ति कर्त्तव्य से विमुख न हो जाय। इसके लिये यथास्थान सही-प्रवृत्ति का खूब समर्थन किया गया है तथा विचार एवं विश्वास पूर्वक अहंकृति के नाश की बात जहाँ कही गई है वहीं प्राप्त के सदुपयोग द्वारा कर्त्तव्य पालन की बात भी कही गई है।

सामूहिक कार्य एक है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का सहयोग अनिवार्य है। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति को जो सामर्थ्य और योग्यता मिली है उसके उपयोग द्वारा आवश्यक कार्यों का सम्पादन होना ही चाहिये तभी समष्टि जीवन की पारस्परिक व्यावहारिक अविच्छिन्नता सुरक्षित रह सकती है। इस सम्बन्ध में यथा-स्थान आवश्यक श्रम पर बहुत ही प्रभावोत्पादक युक्ति-युक्त विवेचन दिये गये हैं।

व्यक्तिगत जीवन का विकास विश्राम में है पर सुन्दर समाज का निर्माण सही-श्रम द्वारा ही सम्भव है। वह सही-श्रम विश्राम में बाधक नहीं है, सहायक है और विश्राम सही-श्रम का स्रोत है। इस प्रकार श्रम और विश्राम दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं तथा व्यक्ति के कल्याण एवं सुन्दर समाज के निर्माण के लिये अनिवार्य हैं। इनमें से किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती, इस बात को अनेक रूपों में अनेक युक्तियों द्वारा स्पष्ट किया गया है।

इसके अतिरिक्त प्रणेता की दृष्टि में व्यक्तिगत जीवन की

असफलता जितनी दु:खद है सामूहिक जीवन की निश्रृंखलता उससे कम दु:खद नहीं है। इसलिये मूक-सत्सङ्ग तथा नित्य-योग जैसे नितांत एकान्तिक व्यक्तिगत जीवन के तथ्यों का विश्लेषण करते समय भी वे समाजगत जीवन को अलग नहीं रख सके हैं। सबल निर्बलों की सेवा न भूल जायँ, इसलिये श्रम-रहित जीवन की महिमा स्थापित करने के साथ ही पर-हित के लिये श्रम की वड़ी भारी उपयोगिता वताई गई है। जगत, जो अव्यक्त का ही व्यक्त रूप है, उसके सुन्दर-संगठन एवं कुशल-संचालन के लिये सही-श्रम की अनिवार्यता की वार-वार याद दिलाई गई है। इस प्रकार "कुछ न करने" में जीवन है, इस वाक्य का भ्रमात्मक अर्थ लगाने की कोई गुंजाइश नहीं रखी गई है।

"मूक-सत्सङ्ग तथा नित्य-योग" के प्रणयन में मुझे एक और अन्त: प्रेरणा काम करती हुई दिखाई देती है—वह यह कि मानव समाज में धर्म तथा वाद (Isms) की विभिन्नता के नाम पर, समय-समय पर जो वड़े-वड़े अनर्थकारी संघर्ष होते रहे हैं, उनका अंत किया जाय। ये संघर्ष इसलिये होते रहते हैं कि विभिन्न मतों के अनुयायी एक दूसरे से द्वेष करते हैं। एकदेशीय दृष्टिकोण के आग्रह से धर्म अधर्म के रूप में वदल जाता है। मानव-समाज की यह वड़ी भारी आपदा है।

जीवन (सत्य) एक है। इसे सभी मानते हैं। पर उसकी प्राप्ति के साधन अनेक हैं, यह तथ्य भी सब देश और सब काल में उपस्थित है। जीवन की एकता मानते हुए भी साधन की विभिन्नता के कारण अलग-अलग मत, सम्प्रदाय, वाद (Isms) तथा मज़हब के लोग एक साथ मिलकर प्रेम पूर्वक रह नहीं पाते।

सत्य एक है। ईश्वर एक है। मानव जीवन का लक्ष्य एक है

आदि-आदि तथ्यों को कहकर सर्व-धर्म समभाव का पाठ पढ़ाने का बहुत प्रयास किया गया है परन्तु वाद (Isms), मज़हब, मत, सम्प्रदाय की भिन्नता के प्रभाव से मानव-समाज ऐसा आक्रान्त है कि पारस्परिक भेद-भाव मिटा नहीं पाता। स्पष्ट है कि "साधन की भिन्नता होते हुए भी जीवन की एकता" के सिद्धान्त को मानव-समाज अपने व्यावहारिक स्तर पर ला नहीं सका।

इसलिये भी यह आवश्यक हो गया कि जब मानव-मात्र की मौलिक माँग एक है तो उसकी पूर्ति के विभिन्न उपायों की मूल-भित्ति भी कोई एक ही होनी चाहिये और वह मूल-साधन देश, काल, वाद, मज़हब, मत, सम्प्रदाय एवं व्यक्तिगत भिन्नताओं (individual differences) के परिधिबन्ध से निर्बन्ध भी होना ही चाहिये जिसको मानव-मात्र स्वाधीनता पूर्वक अपना सके और दृढ़ता पूर्वक कह सके कि वह सफलता का जन्म-सिद्ध अधिकारी है।

आप जानते हैं वह मूल-साधन क्या है? "मूक-सत्संग"। प्रारम्भ में आपने पढ़ा ही है कि "मूक-सत्संग" सभी साधनों की भूमि है; मूल-साधन भी है और सभी साधनों की परावधि भी है। इस रूप में एक ऐसे अचूक उपाय का आविर्भाव हुआ है कि जिसे मानव-मात्र अपना सकता है। मानव-समाज जीवन की प्राप्ति के इस मूल-मन्त्र को अपना कर सभी साम्प्रदायिक संघर्षों का नाश कर सकता है। कोई मन्दिर में फूल चढ़ाता है कि मस्जिद में नमाज पढ़ता है या गिर्जाघर में प्रार्थना करता है, इन बातों से कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि विभिन्न अनुष्ठानों के सम्पादन में भेद है 'न करने' में कोई भेद नहीं है, पूर्ण एकता है। कार्य-क्षेत्र में दो व्यक्ति भी समान नहीं हैं, परन्तु विश्राम के क्षेत्र में सभी समान हैं। अतः विश्राम सम्पादन के द्वारा समता का अनुभव ही भेद तथा भिन्नता

का अन्त कर सकता है। भेद तथा भिन्नता का अन्त होने पर ही व्यक्तिगत जीवन की असफलता और सामाजिक जीवन के संघर्ष का नाश सम्भव है। अतः मूक-सत्संग ही मानव-समाज के सर्वाङ्गीण विकास का मूल है।

उस मूक-सत्संग में क्या कहा गया ? "करने में" जीवन नहीं है। 'करना', अखण्ड नहीं होता। 'करने' से जो मिलता है वह सदैव नहीं रहता और 'स्व' के काम नहीं आता। इसलिए "कुछ न करने" में जीवन है। विश्राम में विकास है। श्रम के द्वारा अविनाशी-योग सम्भव नहीं है। श्रम रहित होकर ही नित्य-जीवन, नित्य-जाग्रति और नित-नव-अगाध-अनन्त-प्रियता से अभिन्नता होती है।

'श्रम-रहित' होना सबके लिए समान रूप से सुलभ है।

प्रणेता का यह अनुसन्धान जीवन-मन्थन का परिणाम है। इस अनुपम शोध की अभिव्यक्ति के लिए व्यापक प्रत्यय (concept formation) निर्माण भी हुआ है। उनके लिए जो नए शब्द गढ़े गए हैं उनका अर्थ-विस्तार (connotation) भी असीम है। जैसे 'नित्य-योग', 'नित्य-जाग्रति', 'जाग्रत-सुषुप्ति' इत्यादि। इन शब्दों को किसी वाद (Ism) या मज़हब या किसी विशिष्ट दर्शन की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता सबकी परावधि जिस जीवन में होती है उस सीमा-विहीन जीवन की भाषा के ये शब्द हैं।

सम्पूर्ण पुस्तक की भाषा में विशिष्ट दार्शनिक दृष्टिकोणों का सीमित Tone भी आप को कहीं नहीं मिलेगा। 'मूक-सत्संग' और 'नित्य-योग' की सर्वव्यापी विचारधारा की अभिव्यक्ति की भाषा शैली में भी इतनी व्यापकता रखी गई है कि कोई भी व्यक्ति इसके दायरे के बाहर छूट नहीं सकता, चाहे वह संसार के किसी

भी मज़हब, वाद (Ism), मत, सम्प्रदाय का मानने वाला क्यों न हो। सभी इसे अपना सकते हैं और सफलता पा सकते हैं।

कौन कह सकता है कि नित्य-जीवन मुझे नहीं चाहिए, नित्य-जागृति मेरे मत के विरुद्ध है और नित-नव-प्रियता मेरी माँग नहीं है ? कोई नहीं कह सकता और नित्य-योग की प्राप्ति का जो साधन बताया गया 'मूक-सत्संग', उसका विरोध तो कोई कर ही नहीं सकता; उसमें कोई अपने को असमर्थ भी नहीं बता सकता। जब कुछ करना ही नहीं है, पराश्रय की अपेक्षा ही नहीं है, तो फिर असमर्थता कैसी ?

अतः 'श्रम-रहित' होने में मानव मात्र स्वाधीन है और नित्य-योग से अभिन्नता मानव मात्र का लक्ष्य है। अतः 'मूक-सत्संग' विश्वव्यापी प्रयोग है और नित्य-योग मानवमात्र का जीवन है। इस प्रयोग और इस जीवन में सभी एक हैं।

इतनी व्यापकता होते हुए भी व्यक्तिगत रचना, मत, सम्प्रदाय, जातीय, धर्म, वाद (Ism) तथा मज़हब का विरोध भी सम्पूर्ण पुस्तक में आपको कहीं नहीं मिलेगा। आप हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, जैन, पारसी, ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, साकार-उपासक, निराकार-उपासक जो भी हैं, ठीक हैं। अपनी स्वीकृति के अनुसार जो भी प्रवृत्ति आवश्यक हो आप कीजिए। आप यह मत सोचिए कि असीम अविनाशी जीवन की व्यापक विचारधारा की व्यापकता में आपको अपनी (individuality) व्यक्तिगत विशिष्टता खो देनी पड़ेगी। सो नहीं होगा। यह सम्भव भी नहीं है। अतः आप अपने व्यक्तित्व (individuality) को लेकर ही चलें। अपने मत, विचार, मज़हब और सम्प्रदाय के अनुसार जो करना चाहते हैं, सब कुछ सही ढंग से करें। सब कुछ करने के अन्त में "कुछ न करना" अनिवार्य है,

और यह स्वाभाविक भी है। सही प्रवृत्ति का अन्त सहज निवृत्ति में अवश्य होता है। निवृत्ति की शान्ति में से आपके ही मत, मजहब और दर्शन के अनुरूप साधन की अभिव्यक्ति होगी, जो साधन आपको 'नित्य-प्राप्त' के 'नित्य-योग' से अभिन्न कर देगा। अतः 'मूक-सत्संग' और 'नित्य-योग' अनेकता में एकता (unity in diversity) का अनुपम सूत्र है। इसके द्वारा साम्प्रदायिक संघर्षों का सदा के लिए अन्त हो सकता है।

व्यक्ति के कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण के उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह महत्वपूर्ण उच्चतर सोपान है। इसमें "मूक-सत्संग और नित्य-योग" का जो भी विवेचन प्रस्तुत है, वह अनुमानित नहीं है प्रत्युत जिन्होंने स्वाधीनता पूर्वक स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश पाया है, श्रम-रहित जीवन में नित्य-योग की अभिव्यक्ति का दर्शन किया है उनके अनुभूत सत्य के आधार पर मानव-समाज की असफलता की पीड़ा से करुणार्द्र हृदय के उद्‌गार एवं सर्व हितकारी सद्भाव से वह पूरित है।

प्रस्तुत पुस्तक का सही मूल्याङ्कन नित्य-योग से विमुखता की दशा में तो कोई कर ही नहीं सकता, हाँ—इसमें बताए गए उपायों का अनुसरण करके श्रम-रहित हो सकता है। मूक-सत्सङ्ग के सम्पादन द्वारा नित्य-योग की दिव्य अनुभूतियों से अभिभूत हो कृत-कृत्य हो सकता है, और यही इस रचना का सही मूल्याङ्कन है। जिस करुणा की आर्द्रता प्रस्तुत विचारधारा में प्रवाहित हुई है उस करुणा-सलिल से हम सब लोग विकासोन्मुख होने के लिए अनुप्राणित होते रहें, इसी सद्‌भावना के साथ—

विनीता

२-५-६३ देवकी

मूक-सत्संग और नित्य-योग

अहंकृति रहित होते ही मंगलमय विधान से स्वतः नित्य-योग की अभिव्यक्ति होती है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब साधक निज विवेक के प्रकाश में अपने लक्ष्य के सम्बन्ध में विकल्प रहित होता है। अपने ही द्वारा अपने लक्ष्य का निर्णय वास्तविक सर्व प्रथम प्रयास है। इस प्रयास के बिना साधक स्वाधीनता पूर्वक सत्पथ में अग्रसर नहीं हो सकता। जिसकी जो माँग है उससे वह स्वतः परिचित है, यह प्राकृतिक तथ्य है। इसी आधार पर मानव-मात्र मूक-सत्संग के द्वारा नित्य-योग प्राप्त करने में सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। मूक-सत्संग है। विचार विनिमय आदि का प्रयास वास्तविक सत्संग का सहयोगी अंग है। अर्थात् विचार विनिमय से मूक-सत्संग की सामर्थ्य आती है। इस कारण मूक-सत्संग के साथ-साथ अपने ही द्वारा अपने सम्बन्ध में विचार विनिमय अनिवार्य है।

मूक-सत्संग कोई अभ्यास नहीं है अपितु समस्त साधनों की भूमि है। मूक-सत्संग किया नहीं जाता, आवश्यक कार्य के अन्त में स्वतः होता है। जो स्वतः होता है उसमें अपनी आस्था, श्रद्धा और विश्वास हो तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक साधन की अभिव्यक्ति तथा असाधन का नाश हो जाता है। किया हुआ साधन साधक के अहंभाव को ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रखता है जो भेद तथा भिन्नता का प्रतीक है। अहंकृति ने ही नित्य-प्राप्त से विमुख किया है और

साधकों को गुण तथा दोष के अभिमान में आबद्ध कर दिया है। गुणों के अभिमान से ही दोष पोषित होते हैं। जब साधक अपने में कोई विशेषता नहीं पाता तब अधीर हो वास्तविकता के लिये परम व्याकुल होता है। व्याकुलता की अग्नि समस्त दोषों को भस्मीभूत करने में सर्वदा समर्थ है। व्याकुलता की जाग्रति प्राकृतिक विकास-क्रम है। वही व्याकुलता सहज, स्वाभाविक रूप से साधक को सत्पथ पर अग्रसर करती है। व्याकुलता के बिना कभी किसी का विकास नहीं हुआ। वास्तविकता से निराश न होने पर व्याकुलता स्वतः जाग्रत होती है। व्याकुलता मिटाई नहीं जा सकती अपितु लक्ष्य से अभिन्न होने पर स्वतः अगाध प्रियता में परिणत होती है। इस दृष्टि से व्याकुलता सफलता की कुँजी है। ज्यों-ज्यों साधक में नित-नव-उत्साह तथा उत्कंठा सबल होती जाती है त्यों-त्यों व्याकुलता स्वतः तीव्र होती जाती है। व्याकुलता अहंकृति के नाश में समर्थ है। अहंकृति ने ही साधक को परिच्छिन्नता में आबद्ध किया है। परिच्छिन्नता से ही भेद तथा भिन्नता पोषित होती है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक भिन्नता में किसी न किसी प्रकार की एकता निहित है किन्तु अहंकृति उस एकता का अनुभव नहीं होने देती। अहंकृति ने साधक को देहाभिमान में आबद्ध किया है जो विनाश का मूल है।

देहादि वस्तुओं के आश्रय से ही लक्ष्य की प्राप्ति होगी, यही मूल भूल है। इस भूल के रहते हुए अहंकृति का अन्त सम्भव नहीं है। देहादि वस्तुओं के सदुपयोग का दायित्व है, पर उनके आश्रय से अपना हित होगा, यह भ्रम-मूलक धारणा है। देहादि के रहते हुए ही उनके आश्रय का त्याग सभी साधकों के लिये अनिवार्य है। वस्तुओं के आश्रय से वस्तुएँ सुरक्षित रहेंगी, इस भ्रम का अन्त

करना अत्यन्त आवश्यक है। प्राकृतिक नियमानुसार वस्तुओं के सदुपयोग से ही आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति होती है। वस्तुओं के आश्रय से तो लोभ, मोह आदि विकार ही उत्पन्न होते हैं, वस्तुओं का उपयोग विश्व की सेवा में करना है। क्रियात्मक सेवा भावात्मक सेवा को सजीव बनाती है। भावात्मक सेवा से ही साधक के जीवन में विश्व प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। विश्व प्रेम की अभिव्यक्ति होने पर साधक बड़ी ही सुगमता पूर्वक परिवर्तनशील की दासता से रहित हो जाता है, जिसके होते ही अपने ही में अपने प्रेमास्पद को पाकर कृत्यकृत्य होता है। नित्य-योग के लिये अपने ही में अपने प्रेमास्पद का अनुभव अनिवार्य है जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

अविनाशी का संग विनाशी की विमुखता में निहित है। अहंकृति रहित होते ही साधक बड़ी ही सुगमता पूर्वक वस्तु, अवस्था और परिस्थिति से असंग हो जाता है जिसके होते ही समता के साम्राज्य में प्रवेश पाता है। समता के बिना दीनता तथा अभिमान का नाश सम्भव नहीं है। समता प्रियतम की सेज है, उसी में प्रीति तथा प्रियतम का नित्य विहार है। विषमता के रहते हुए चिन्मय-जीवन से अभिन्नता सम्भव नहीं है और चिन्मय-जीवन के बिना पराधीनता का अन्त किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। इस दृष्टि से विषमता का अन्त करना अनिवार्य है जो एक मात्र अहंकृति के नाश से ही साध्य है।

जो प्रत्येक उत्पत्ति का आश्रय तथा प्रतीति का प्रकाशक है उसमें आस्था होने पर अविनाशी का संग हो जाता है जिसके होते ही असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति होती है जो सर्व-तोमुखी विकास का मूल है, जो प्रत्येक उत्पत्ति का आश्रय तथा

प्रतीति का प्रकाशक है वह सर्वदा अनुत्पन्न तत्त्व ही है। उसका संग ही सत्संग है। अतएव यह निर्भ्रान्त सिद्ध है कि अनुत्पन्न हुए तत्त्व का संग मूक-सत्संग से ही साध्य है, किसी श्रमसाध्य प्रयोग से नहीं।

"मूक-सत्संग से भिन्न भी सत्संग है", यह स्वीकार करना सत् की चर्चा को ही सत् का संग मानना है। यद्यपि सत् की चर्चा सत् के संग का सहयोगी प्रयास है, परन्तु सत् का संग नहीं है। सत् के संग में मानव सदैव स्वाधीन है। सत्संग के लिये किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, इसी कारण प्रत्येक मानव के लिये साध्य है। सत् की आस्था से अथवा असत् के ज्ञान से सत् का संग स्वतः होता है। इस रहस्य को वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने परा-धीनता से पीड़ित होकर वास्तविकता की खोज की है। स्वाधीनता के लिये किसी भी प्रकार की परतंत्रता अपेक्षित नहीं है; अपितु, स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीनता की प्राप्ति होती है। यदि ऐसा न होता तो स्वाधीनता मानव मात्र की माँग न होती। जो सभी की माँग है, उसकी पूर्ति में सभी स्वाधीन तथा समर्थ हैं। अतः सत्संग सभी के लिये सुलभ है किन्तु सत् की आस्था तथा असत् को न जानने के कारण सत्संग दुर्लभ हो गया है। मानव जीवन का परम पुरुषार्थ एक मात्र सत्-संग है। सत्-संग के बिना किसी को भी कभी भी वास्तविकता की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अतः सत्संग की उत्कट लालसा जगाना अनिवार्य है। सत्संग के बिना चैन से रहना अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करना है। सत्संग के बिना मानव मानव नहीं है। सत् है, उसकी माँग है। पर असत् के संग से उत्पन्न हुई कामनाओं को बनाये रखना ही सत्संग से विमुख होना है। कामना पूर्ति की आशा में जो सुखद कल्पना है, वह

कामना पूर्ति काल में नहीं है। यदि कामना पूर्ति मानव का चरम लक्ष्य होता तो प्राकृतिक नियमानुसार सभी कामनायें पूरी होतीं, पर ऐसा किसी मानव का अनुभव नहीं है। कामना पूर्ति और अपूर्ति का परिणाम समान है। अर्थात् दोनों ही दशा में पराधीनता ही रहती है जो मानव को स्वभाव से प्रिय नहीं है। इस कारण निष्कामता से ही सत्संग होता है। निष्कामता स्वधर्म है, शरीर-धर्म नहीं। शरीरादि वस्तुएँ परस्पर एक दूसरे के संकल्प-पूर्ति मात्र में हेतु हैं पर सभी वस्तुएँ पर-प्रकाश्य एवं परिवर्तनशील हैं, इस कारण सभी संकल्पों की पूर्ति नहीं होती। अतः संकल्प-पूर्ति जीवन नहीं है। संकल्प उसे नहीं कहते जो सभी अवस्थाओं से अतीत की ओर प्रेरित करता है। सभी अवस्थाओं से अतीत की ओर जो प्रेरित करता है वह माँग है, संकल्प नहीं। संकल्प उत्पन्न हुई वस्तुओं अर्थात् पर-प्रकाश्य से तादात्म्य तथा सम्बन्ध जोड़ता है जिससे मानव पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि में आबद्ध हो जाता है। उन संकल्पों की पूर्ति में, जो किसी के लिये अहितकर नहीं हैं, मिली हुई सामर्थ्य, योग्यता, वस्तु आदि का सद्व्यय करना है जिसके करने से करने के राग की निवृत्ति तथा सुन्दर समाज का निर्माण होता है। यह मंगलमय विधान है। इस दृष्टि से मिले हुए का सदुपयोग बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो जाता है। पर जो मिला है, वह उसी की देन है जिसका यह सब कुछ है। मिले हुए में ममता तथा प्रतीति की कामना असत् का संग है। इस दृष्टि से निर्ममता और निष्कामता से ही सत्संग साध्य है। निर्मम तथा निष्काम होने में सभी मानव सर्वदा स्वाधीन हैं। यह कार्य सभी को स्वयं करना है। किसी अन्य के द्वारा सम्भव नहीं है। जो स्वयं करना है वही सत्संग है। निर्मम तथा निष्काम

होते ही मूक-सत्संग स्वतः सिद्ध हो जाता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

मूक-सत्संग से ही सर्वतोमुखी विकास होता है।

सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, विचार का उदय एवं प्रीति की जाग्रति मूक-सत्संग की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। मूक-सत्संग अभ्यास नहीं है अपितु सहज, स्वाभाविक, सनातन तथ्य है। इसी कारण सब कुछ करने पर अथवा कुछ न करने से प्राप्त होता है। अतः प्रत्येक प्रवृत्ति के आदि और अन्त में सहज निवृत्ति पूर्वक मूक-सत्संग स्वतः होता है।

असमर्थता का एक मात्र कारण प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग तथा अहंकृति ही है। मिले हुए का दुरुपयोग न करने का निर्णय सदुपयोग में हेतु है और अहंकृति का अन्त आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करने में समर्थ है। वैज्ञानिक दृष्टि से जो वस्तु जितनी सूक्ष्म होती है वह उतनी ही विभु होती है और जो स्थूल होती है वह सीमित होती है। अहम्भाव के समान सूक्ष्म और कोई वस्तु नहीं है। समस्त जगत् का बीज अहम् में ही विद्यमान है। निर्ममता एवं निष्कामता पूर्वक समर्पण-भाव ही अहम् रूपी अणु के नाश में हेतु है। अहम् का अन्त और अनन्त से अभिन्नता युगपद होते हैं। अहम् की अन्तिम परिणति शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम-तत्त्व से अभिन्न होना है। शान्ति किसी के आश्रय से अभिव्यक्त नहीं होती अपितु निर्ममता से साध्य निष्कामता ही शान्ति में हेतु है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने क्रियाशीलता, चिन्तन एवं स्थिरता आदि सभी अवस्थाओं से अपने को असंग किया है। अहम्रूपी अणु सूक्ष्म होने के कारण सभी अवस्थाओं से तादात्म्य भी कर लेता है और सभी से अतीत में भी प्रवेश कर सकता है, किन्तु निराश्रय होने पर

स्वयं प्रेम-तत्त्व से अभिन्न होता है जो अनन्त का स्वभाव है। प्रेम-तत्त्व की अभिव्यक्ति में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। दृश्य की ओर गतिशील होने पर अहम्रूपी अणु क्रियाशीलता, चिन्तन एवं स्थिरता के आश्रित जीवित रहता है किन्तु अवस्थाओं का आश्रय लेने के कारण परिच्छिन्नता में आबद्ध हो जाता है। परिच्छिन्नता के रहते हुए दूरी, भेद तथा भिन्नता का अन्त सम्भव नहीं है अर्थात् परिच्छिन्नता वास्तविक योग, बोध एवं प्रेम की प्राप्ति में बाधक है। योग सामर्थ्य का, बोध अमरत्त्व का और प्रेम अनन्त रस का प्रतीक है। इस दृष्टि से परिच्छिन्नता का अन्त करना अनिवार्य है। 'पर' का आश्रय *रहते हुए परिच्छिन्नता का नाश सम्भव नहीं है। परिच्छिन्नता ही* अहंकृति की जननी है। परिवर्तनशील अवस्थाओं से असहयोग किये बिना परिच्छिन्नता का अन्त किसी भी प्रकार हो नहीं सकता। इस कारण समस्त प्रतीतियों से विमुख होना है। प्रतीतियों से विमुख होते ही स्वतः शान्ति तथा स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश होता है किन्तु विचारशील साधक शान्ति में रमण तथा स्वाधीनता में सन्तुष्ट नहीं होते। तब स्वतः मंगलमय विधान से प्रेम-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है जो वास्तविक जीवन है।

सभी प्रयत्न अप्रयत्न के सम्पादन में साधनरूप हैं किन्तु अकर्मण्यता तो मानव को व्यर्थ चिन्तन में ही आबद्ध करती है। अप्रयत्न एवं अकर्मण्यता में बड़ा भेद है। सुख के प्रलोभन का अत्यन्त अभाव होने पर साधक अप्रयत्न हो, चिन्मय जीवन से अभिन्न होता है। सुख का प्रलोभन ही पराधीनता का मूर्तिमान चित्र है और वही अहम् रूपी अणु को जीवित रखता है। इतना ही नहीं, अनेक प्रकार के दुखों का आह्वान सुख के प्रलोभन में ही निहित है। जब तक किसी प्रकार की पराधीनता सहन होती

है तब तक सुख के प्रलोभन का नाश नहीं होता; कारण, कि वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि का आश्रय साधक को पराधीनता में आबद्ध करता है। स्वाधीनता की उत्कट लालसा अवस्था आदि के आश्रय से असंग करती है अर्थात् स्वाधीनता की लालसा पराधीनता को खाकर साधक को अवस्थातीत जीवन से अभिन्न करती है। जब पराधीनता असह्य हो जाती है तब वस्तु, व्यक्ति, देश, काल आदि से असहयोग स्वतः हो जाता है किन्तु वस्तुओं के सदुपयोग से व्यक्तियों की सेवा स्वतः होती रहती है। देश-काल का आश्रय साधक को वर्तमान में वास्तविकता से अभिन्न नहीं होने देता, इस कारण वस्तु, व्यक्ति, देश-काल आदि सभी से असंग होना अनिवार्य है जो एक मात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

मूक श्रम-रहित होने का प्रतीक है। सत् सर्वत्र, सर्वदा, ज्यों का त्यों विद्यमान है। उससे देशकाल की दूरी नहीं है। उसका संग श्रमसाध्य नहीं है। अतः श्रम रहित होना ही वास्तविक सत्-संग का अचूक उपाय है। श्रम का मूल पराधीनता में जीवन-बुद्धि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जो नित्य-प्राप्त है, उसमें आस्था न होने से ही पराधीनता सहन होती है। नित्य-प्राप्त की कामना ने ही नित्य-प्राप्त से दूरी उत्पन्न कर देती है और मिले हुए से तादात्म्य हो गया है जिसका अन्त करना अनिवार्य है। मिले हुए का तादात्म्य किसी श्रमयुक्त साधन से नाश नहीं हो सकता अपितु श्रमयुक्त साधन तादात्म्य को पोषित ही करता है। श्रम तो एक मात्र परिस्थिति के सदुपयोग अर्थात् वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के सद्व्यय में ही उपयोगी है किन्तु निष्कामता के बिना वस्तु आदि का सदुपयोग भी श्रम-रहित नहीं कर पाता। इस कारण निष्काम होकर ही वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का सदुपयोग करना हितकर

सिद्ध होता है। निष्काम होने में स्वाधीनता की उत्कट लालसा अर्थात् पराधीनता की असह्य वेदना ही हेतु है।

अविनाशी का संग किये बिना असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इस दृष्टि से मूक-सत्संग ही वास्तविक सत्संग है। जो हो रहा है, उससे असहयोग और जो 'है' उसका संग मूक-सत्संग है। असहयोग से असत् की निवृत्ति और सत् का संग स्वतः होता है। अहम्‌रूपी अणु के सहयोग से ही जो हो रहा है उसके प्रभाव से प्रभावित हो मानव जो 'है' उससे विमुख हो जाता है। इस कारण अचाह होने पर भी जिसकी प्रतीति हो रही है, उससे असहयोग अनिवार्य है। प्रतीति का प्रभाव सहयोग से ही अपने पर शासन करता है। असहयोग मात्र से साधक प्रतीति के प्रभाव से मुक्त हो जाता है और फिर बड़ी ही सुगमता-पूर्वक जाग्रत-सुषुप्ति हो जाती है जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है। क्रियाशीलता, चिन्तन एवं स्थिति का आश्रय न रखना ही वास्तव में असत् से असहयोग तथा सत् का संग है। अप्रयत्न तथा अचिन्त होने मात्र को मूक सत्संग स्वीकार करना भूल है। प्रयत्न और अप्रयत्न, चिन्तन तथा अचिन्त होना अवस्थाएँ हैं। अवस्थाओं के आश्रय का त्याग मूक-सत्संग है। अप्रयत्न अहंकृति के नाश में और अचिन्त चिन्तन-जनित सुख की आसक्ति से मुक्त करने में हेतु है। इस दृष्टि से अप्रयत्न तथा अचिन्त होना अनिवार्य है। पर उसे ही मूक-सत्संग मान लेना भूल है। सत्संग अहम्-भाव को सत् से अभिन्न करता है और अचिन्तता अहम् में आवश्यक सामर्थ्य तथा विचार का उदय एवं विरह की जाग्रति प्रदान करती है। यह नियम है कि विचार का उदय तथा विरह की जाग्रति जिसमें होती है उसे खाकर वास्तविकता से अभिन्न कर देती है

अर्थात् दूरी, भेद और भिन्नता शेष नहीं रहती तथा अहम्‌रूपी अणु योग, बोध और प्रेम में स्वतः सदा के लिये परिणत हो जाता है। योग, बोध और प्रेम अनन्त का स्वभाव तथा साधक का जीवन है। मानव जीवन के विकास की परावधि योग, बोध तथा प्रेम में निहित है जो एक मात्र मूक-सत्संग से ही साध्य हैं। मूक-सत्संग मानव का अन्तिम पुरुषार्थ है। इसी कारण मानव मात्र उसका अधिकारी है। मूक-सत्संग से निराश होना भारी भूल है। उसके लिये प्रयत्नशील न होने के समान और कोई असावधानी नहीं है। जिसकी उपलब्धि में सभी स्वाधीन हैं उससे निराश होने के समान और कोई प्रमाद नहीं है। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार स्वतः मूक-सत्संग होता है परन्तु अहंकृति के अभिमान के कारण उस पर दृष्टि नहीं रहती। निर्ममता एवं निष्कामता पूर्वक अप्रयत्न होते ही स्वतः होने वाले मूक-सत्संग का अनुभव होता है। मूक-सत्संग होने पर 'करना' 'होने' में और 'होना' 'है' में विलीन हो जाता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने सर्वांश में जाने हुए असत् का त्याग किया है। वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि में जीवन बुद्धि स्वीकार न करना ही सर्वांश में असत् के त्याग में हेतु है। जो जीवन नहीं है उसमें जीवन बुद्धि स्वीकार न करना ही वास्तविक जीवन से अभिन्न होने का अचूक उपाय है अर्थात् असत् का त्याग और सत् का संग युग-पद होते हैं। जो जीवन नहीं है उसमें जीवन-बुद्धि न रहना ही वास्तविक जीवन से अभिन्न होना है। वास्तविक जीवन से अभिन्न होना ही मानव जीवन की सार्थकता है। अतः वास्तविकता से किसी भी परिस्थिति में निराश नहीं होना है अपितु नित-नव आशा जाग्रत करना है। जिससे निराश नहीं होना है उससे निराश होने पर उसकी आशा

उत्पन्न होती है जिससे निराश होना अनिवार्य है। इस भूल का अन्त करने के लिये यह प्रश्न आवश्यक है कि वह कौन सा जीवन है जो सभी का अपना है और उसकी उपलब्धि का अचूक उपाय क्या है ? जिसकी उपलब्धि किसी परिस्थिति विशेष की अपेक्षा रखती है, वह जीवन सभी का जीवन नहीं हो सकता; कारण, कि परिस्थिति दो व्यक्तियों की भी सर्वांश में समान नहीं होती। जिसकी प्राप्ति प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से होती है वही वास्तव में सभी का अपना जीवन है। इस दृष्टि से वास्तविक जीवन से निराश होने के समान और कोई भारी भूल नहीं है। यह सभी को विदित है कि कामना पूर्ति में कोई भी स्वाधीन नहीं है किन्तु अचाह होने में सभी मानव स्वाधीन हैं। अचाह होते ही प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य स्वत: आती है। यह मंगलमय विधान है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करते ही मानव बड़ी ही सुगमता से अप्रयत्नपूर्वक मूक-सत्संग का अधिकारी हो जाता है। अप्रयत्न का अर्थ अकर्मण्यता तथा आलस्य नहीं है, अपितु जो करना चाहिये उसके करने का ही परिणाम है। जो नहीं करना चाहिये अथवा जिसे नहीं कर सकते, उस कार्य के जमा रखने से ही जो करना चाहिये उसका करना दुष्कर हो जाता है। इसी दशा में मानव अकर्मण्य हो कर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। प्राकृतिक नियमानुसार जिसे जो करना चाहिये उसके करने में वह सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है तो फिर अकर्मण्यता का जीवन में स्थान ही कहाँ है। परन्तु जिन साधकों की पराधीनता में ही जीवनबुद्धि हो जाती है वे अपने कर्त्तव्य को भूल दूसरों के कर्त्तव्य पर ही दृष्टि रखते हैं। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम होता है। जब अचाह, अप्रयत्न एवं आत्मीयता से ही वास्तविक जीवन की

उपलब्धि होती है तो फिर पराधीनता का जीवन में स्थान ही कहाँ है ? पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपनी ओर देखने का अथक प्रयास किया है।

प्राकृतिक नियमानुसार मानव मात्र को साधननिष्ठ होने के लिये आवश्यक वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि सब कुछ जन्मजात प्राप्त है तो फिर हार मानकर बैठ जाना, पराधीनता को अपनाना क्या विधान का अनादर नहीं है ? विधान का अनादर करना किसी भी मानव के लिये उचित नहीं है; अपितु, विधान के आदर में ही जीवन का आदर है। विधान के आधीन होते ही स्वाधीनता स्वतः प्राप्त होती है जो विकास का मूल है।

यह सभी को विदित है कि श्रम का आरम्भ और अन्त विश्राम में ही निहित है तो फिर विश्राम में अविचल आस्था न करना और उसे सुरक्षित न रखना क्या अपनी ही बनाई हुई भूल नहीं है। अपनी भूल मिटाने का दायित्व अपने ही पर है, अन्य पर नहीं। अतः प्रत्येक मानव को मूक-सत्संग स्वतः करना है। मूक-सत्संग ही वास्तविक सत्संग है और इसकी सिद्धि में ही मानव के पुरुषार्थ की परावधि है अथवा यों कहो कि मूक-सत्संग मानव मात्र का स्वधर्म है। स्वधर्मनिष्ठ हुए बिना सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं है अर्थात् जो अपने को करना है उसे कोई दूसरा नहीं कर सकता और जो दूसरों को करना है उसका दायित्व अपने पर नहीं है। सत्संग अपने ही द्वारा अपने को सुलभ है। उसके लिये पर की अपेक्षा नहीं है। अपने में अपनी आस्था न होने से सत्संग दुर्लभ हो जाता है। अपने जाने हुए का अपने पर प्रभाव न हो और उसके द्वारा दूसरों को समझाने का प्रयास हो, क्या यह अपने ही द्वारा अपनी हत्या नहीं है ? समस्त साधनों की अभिव्यक्ति

सत्संग में निहित है तो फिर क्या सत्संग ही मानव का परम पुरुषार्थ नहीं है। सत्संग के बिना सर्वांश में असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति किसी प्रकार हो नहीं सकती। अतः सत्संग मानव का वर्तमान कर्त्तव्य है। इसी दृष्टि से मूक-सत्संग का सम्पादन सभी के लिये अनिवार्य है। यद्यपि सभी को मूक-सत्संग अपनाना ही पड़ता है परन्तु उस पर दृष्टि न रहने से उसकी वास्तविकता का बोध नहीं होता।

मूक-सत्संग होते ही आगे पीछे का चिन्तन अपने आप उत्पन्न होता है जो एक मात्र भुक्त अभुक्त का प्रभाव है। यदि उत्पन्न हुए चिन्तन से तादात्म्य न स्वीकार किया जाय अपितु उससे असहयोग कर लिया जाय तो प्राकृतिक नियमानुसार उत्पन्न हुआ चिन्तन स्वतः नाश हो जाता है जिसके होते ही सार्थक चिन्तन, परम शान्ति एवं विचार का उदय तथा प्रीति की जाग्रति स्वतः होती है। कर्त्तव्य की विस्मृति का नाश मूक-सत्संग से स्वतः हो जाता है अर्थात् कर्त्तव्य की स्मृति तथा उसके पालन की सामर्थ्य मूक-सत्संग से स्वतः अभिव्यक्त होती है। यह प्राकृतिक नियम है कि जो मानव को करना अपेक्षित है उसके लिये आवश्यक सामर्थ्य, योग्यता एवं वस्तु आदि स्वतः प्राप्त होती हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव स्वाधीनता-पूर्वक वह कर सकता है जो उसे करना है और वह पाता है जो उसे पाना है अर्थात् दायित्व को पूरा करने में तथा माँग की पूर्ति होने में लेश मात्र भी असमर्थता तथा परतन्त्रता नहीं है परन्तु कामनाओं की निवृत्ति तथा माँग की जाग्रति सुरक्षित रखना अनिवार्य है। कामनायें मानव को देहादि वस्तुओं में आवद्ध करती हैं और माँग की जाग्रति देहाभिमान गलाने में हेतु है; कारण, कि मानव की जो माँग है उसकी पूर्ति किसी भी उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था,

परिस्थिति आदि से सम्भव नहीं है। माँग की जाग्रति और वस्तु, अवस्था आदि के तादात्म्य का नाश युगपद होते हैं। देहादि का तादात्म्य मिटते ही अहंकृति स्वतः नाश हो जाती है जिसके होते ही मूक-सत्संग स्वतः सिद्ध होता है।

अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास-पूर्वक आत्म-समर्पण से भी मूक-सत्संग स्वतः प्राप्त होता है। कारण, कि अहं का अन्त होते ही ममता, कामना आदि का नाश स्वतः हो जाता है और फिर परम शान्ति की अभिव्यक्ति अपने आप होती है जो वास्तव में मूक-सत्संग है। वर्तमान कर्त्तव्य कर्म को यदि मानव फलासक्ति तथा कर्तृत्त्व के अभिमान से रहित होकर पवित्र भाव से कर डाले तो प्रत्येक कार्य के अन्त में मूक-सत्संग स्वतः होने लगता है।

जाने हुए का प्रभाव तथा सुने हुए में अविचल आस्था एवं मिले हुए का दुरुपयोग न करने पर मूक-सत्संग स्वतः हो जाता है। इस दृष्टि से समस्त कार्य-क्रम मूक-सत्संग की सिद्धि के लिये ही अपेक्षित है। यह नियम है कि जो कुछ किया जाता है उसके अन्त में न करने की स्थिति स्वतः आती है और प्रत्येक कार्य का आरम्भ न करने से ही होता है। इस दृष्टि से कार्य के आदि और अन्त में जो 'है' वही मूक-सत्संग है। मूक-सत्संग सभी को स्वतः प्राप्त है किन्तु मानव असावधानी के कारण उससे विमुख हो जाता है। लक्ष्य का यथार्थ निर्णय करते ही असावधानी स्वतः मिट जाती है जिसके मिटते ही जो नहीं करना चाहिये उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती और जो करना चाहिये वह स्वतः ही होने लगता है। इस दृष्टि से असावधानी का अन्त करना अनिवार्य है जो एक मात्र अपने सम्बन्ध में विचार करने से ही साध्य है।

सत्संग मानव मात्र के लिये अनिवार्य है; कारण, कि उसके विना उत्पन्न हुए असाधनों की निवृत्ति तथा साधनों की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। जब तक साधक में साधन की अभिव्यक्ति नहीं होती तब तक साधक असाधन के रहते हुए बल पूर्वक अपने में साधन का आरोप करता है। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार किया हुआ साधन नाश नहीं होता परन्तु असाधन के रहते हुए किया हुआ साधन वर्तमान में सिद्धिदायक नहीं होता। सफलता मानव मात्र का जन्मगात अधिकार है। असफलता का कारण एक मात्र असाधनों का उत्पन्न हो जाना है। उत्पत्ति का विनाश प्राकृतिक तथ्य है किन्तु सत्संग के बिना असाधनों की उत्पत्ति होती ही रहती है और साधक बल पूर्वक साधन करता ही रहता है। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति का अन्त करना प्रत्येक साधक के लिये अत्यन्त आवश्यक है जिसकी पूर्ति सत्संग से ही साध्य है। सत्संग मानव मात्र का स्वधर्म है। स्वधर्म उसे कहते हैं जिसकी सिद्धि अपने द्वारा साध्य है। सत्संग मानव मात्र स्वाधीनता-पूर्वक कर सकता है। इतना ही नहीं, सत्संग वर्त्तमान का पुरुषार्थ है। इस दृष्टि से बड़ी ही सावधानी पूर्वक प्रत्येक मानव को सत्संग के लिए अथक प्रयास करना है पर यह तभी सम्भव होगा जब मानव अपने द्वारा सत्संग करने की स्वाधीनता को स्वीकार करे।

असाधनों की उत्पत्ति प्राकृतिक दोष नहीं है और साधनों की अभिव्यक्ति व्यक्तिगत उपज नहीं है। समस्त असाधनों की उत्पत्ति भूल जनित है। इसी कारण उनका विनाश अनिवार्य है। भूल मानव की अपनी बनायी हुई है इस कारण उसके विनाश का दायित्व अपने ही पर है। भूल जाने हुए की होती है अर्थात् जब मानव अपने जाने हुए का आदर नहीं करता तब जो दशा उत्पन्न

होती है वही भूल है। प्राकृतिक नियमानुसार भूल से असाधनों की उत्पत्ति तो होती है पर वह साधन की माँग का नाश नहीं कर पाती। साधन की माँग मानव की स्वाभाविक माँग है। उसकी पूर्ति होती है। उससे निराश होना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। अतएव भूल का अन्त कर असाधन के नाश एवं साधन की अभिव्यक्ति में सभी को स्वाधीनता है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव अपने को सत्संग में स्वाधीन मानता है।

जाने हुए असत् के संग से ही मानव सत्संग से विमुख हुआ है। सत्संग से विमुख होने पर ही सत् से दूरी, भेद तथा भिन्नता भासती है। सत् सर्वत्र तथा सर्वदा ज्यों का त्यों है। जो 'है' उससे निराश होना अपनी ही भूल है। असत् का ज्ञान जिससे होता है वही सत् है। प्रत्येक मानव अपने में अपने जाने हुए असत् को पाता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि सत् अप्राप्त नहीं है। यदि सत् अप्राप्त होता तो असत् का ज्ञान ही न होता। असत् का ज्ञान यह स्पष्ट कर देता है कि सत् प्राप्त है किन्तु मानव जाने हुए असत् के त्याग से सत् का संग नहीं करता। यही मानव की अकर्मण्यता तथा असावधानी है जिसका शीघ्रातिशीघ्र अन्त करना अनिवार्य है जो एक मात्र वर्त्तमान में ही हो सकता है। सत्संग के प्रयास को भविष्य पर छोड़ना भारी भूल है। सत्संग वर्त्तमान का परम पुरुषार्थ है। सत्संग करने पर सभी समस्याओं का हल स्वतः हो जाता है अर्थात् मानव जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति में सत्संग ही एक मात्र हेतु है। इस दृष्टि से सत्संग का बड़ा ही महत्त्व है। इतना ही नहीं, सत्संग मानव से भिन्न किसी अन्य प्राणी के लिये सम्भव ही नहीं है। अर्थात् मानव जीवन में ही सत्संग की उपलब्धि होती है। यदि यह कह दिया जाय कि सत्संग के

मानव जीवन मिला है तो अत्युक्ति नहीं होगी ! जिसके लिये जीवन मिला है उसको न करना भारी भूल है। भूल मिटाने का दायित्व अपने ही पर है। भूल को भूल जान लेने पर उसका त्याग न करना अपने ही द्वारा अपने को धोखा देना है जो विनाश का मूल है।

असत् के संग से ही देहाभिमान की उत्पत्ति होती है जिसके होते ही समस्त विकार पोषित होते हैं और फिर मानव पराधीनता, जड़ता, असमर्थता, अभाव आदि में आबद्ध हो जाता है। असत् का त्याग अर्थात् सत् का संग मानव को स्वयं करना है। सत्संग के लिये किसी वस्तु आदि की अपेक्षा नहीं है। जिसकी उपलब्धि किसी वस्तु आदि की अपेक्षा नहीं रखती उसकी प्राप्ति श्रम-रहित होने पर स्वतः होती है। श्रम से प्राप्त होने वाली वस्तु मानव मात्र के लिये सर्वदा सुलभ नहीं है। श्रम-रहित होने से जिसकी प्राप्ति होती है, वह मानव मात्र के लिये साध्य है। इस दृष्टि से सत्संग मानव-मात्र के लिये साध्य है। प्रत्येक प्रवृत्ति से पूर्व और प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में जो श्रम-रहित स्थिति स्वतः आती है उसमें आस्था करने से बड़ी ही सुगमता पूर्वक सत्संग सिद्ध होता है।

यह सभी को मान्य है कि प्रत्येक कर्म का आरम्भ तथा अन्त होता है और कर्मजनित परिणाम भी सदैव नहीं रहता। जो सदैव नहीं रहता वह जीवन नहीं है। अतः जीवन की प्राप्ति कर्म सापेक्ष नहीं है अपितु सत्संग से ही साध्य है। कर्म की अपेक्षा मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि के सदुपयोग में है। वस्तु आदि का सदुपयोग पर-सेवा में है। पर-सेवा से सुन्दर समाज का निर्माण तथा करने के राग की निवृत्ति होती है। करने का राग देहाभिमान को पुष्ट करता है जो विनाश का मूल है । न करने की स्थिति

यद्यपि स्वतः सिद्ध है परन्तु करने के राग के कारण उसका स्पष्ट बोध नहीं होता जिसके न होने से सत्संग सिद्ध नहीं होता और उसके सिद्ध हुए बिना असाधन की निवृत्ति तथा साधन की अभिव्यक्ति नहीं होती। साधन की अभिव्यक्ति होने पर ही साधन तथा जीवन में एकता होती है जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

समस्त साधनों की परावधि योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति में है। योग से असमर्थता का और बोध से जड़ता तथा अभाव का और प्रेम से नीरसता का नाश होता है जिसके होते ही मानव कृत्कृत्य होता है। योग, बोध और प्रेम मानव मात्र की अपनी माँग है। माँग की पूर्ति अनिवार्य है। जिसकी पूर्ति अनिवार्य है उससे निराश होना भूल है। असमर्थता से ही मानव अकर्त्तव्य, असाधन एवं आसक्तियों में आबद्ध हो गया है जो एक मात्र असत् के संग से उत्पन्न हुई है। सत्संग से असमर्थता सदा के लिये मिट जाती है। अतएव सत्संग के बिना चैन से रहना अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करना है। जिसकी प्राप्ति मानव-मात्र के लिये सम्भव है उससे निराश हो जाना, उसके बिना चैन से रहना, उसकी उपेक्षा करना, उसे वर्तमान कार्य न मानना तथा उसका सम्पादन अपने आप न करना अपने विनाश का बीज बोना है।

असमर्थता प्राकृतिक दोष नहीं है अपितु प्रमाद जनित है; कारण, कि किसी को वह नहीं करना है जिसे वह कर नहीं सकता। जब मानव मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का उपयोग उसमें कर बैठता है जो नहीं करना चाहिये तब जो करना चाहिये उसके करने में अपने को असमर्थ पाता है। यह असमर्थता उसने स्वयं उत्पन्न की है। इसके मिटाने का दायित्व उसी पर है।

जो नहीं करना चाहिये, उसके न करने मात्र से वह स्वतः

होने लगता है जो करना चाहिये। इस दृष्टि से अकर्त्तव्य को अपनाने से ही मानव कर्त्तव्य से विमुख होता है। कर्त्तव्य-परायणता में असमर्थता तथा पराधीनता नहीं है अपितु सर्वदा स्वाधीनता है। कर्त्तव्य-परायणता सत्संग से स्वतः आ जाती है। जो नहीं करना चाहिये उसको करना और जो नहीं कर सकते उसके करने की सोचते रहना अपने ही द्वारा अकर्त्तव्य को अपना लेना है जो असमर्थता का मूल है। जो नहीं करना चाहिये उसका सर्वथा त्याग अपेक्षित है और जिसे नहीं कर सकते उसको समर्पित करना है। अकर्त्तव्य का त्याग करने पर कर्त्तव्य-परायणता स्वतः आ जाती है। जो नहीं करना चाहिये, उसके न करने से वर्त्तमान निर्दोषता सुरक्षित रहती है जो विकास की जननी है। जो नहीं कर सकते उसको समर्पित करने से कालान्तर में आवश्यक सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। कर्त्तव्य का सम्बन्ध प्राप्त परिस्थिति से है। अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान वे ही लोग करते रहते हैं जो कर्त्तव्य के नाम पर व्यक्तिगत सुख-भोग की रुचि में आबद्ध हैं। कर्त्तव्यनिष्ठ होने के लिये तो प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है, किसी अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन नहीं करना है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से ही सभी परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश एवं आवश्यक वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य की प्राप्ति होती है। यह मंगलमय विधान है। इस दृष्टि से मानव प्रत्येक परिस्थिति में सत्संग के द्वारा असमर्थता का अन्त कर सकता है जो विकास का मूल है। सामर्थ्य का अर्थ किसी परिस्थिति पर निर्भर नहीं है; अपितु, प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में निहित है जिसकी स्वाधीनता मानव मात्र को स्वतः प्राप्त है। परिस्थिति के आश्रय तथा उपयोग द्वारा अपने सुख को सुरक्षित रखने का प्रयास करना

और परिस्थितियों से अतीत के जीवन की खोज न करना अथवा उसमें आस्था न रखना पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना है जो वास्तव में प्रमाद है। प्रमाद का नाश एक मात्र सत्संग से ही सम्भव है, किसी अन्य प्रकार नहीं। इस कारण मानव का प्रथम और अन्तिम पुरुषार्थ सत्संग ही है।

सत्संग की उपलब्धि में पराधीनता तथा असमर्थता की गंध भी नहीं है। इसी कारण मानव पर सत्संग का दायित्व है। दायित्व पूरा करते ही माँग की पूर्ति स्वतः होती है। यह विधान है।

विधान के आदर में ही जीवन का आदर है। विधान को अपना लेने से ही विधायक में आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास स्वतः होता है जिसके होते ही आत्मीयता की अभिव्यक्ति होती है जो प्रियता की जननी है। प्रियता की जाग्रति में ही जीवन की पूर्णता निहित है। इस दृष्टि से मानव मात्र को विधान का आदर करना अनिवार्य है। जिस प्रकार असत् के संग से समस्त दोषों की उत्पति होती है उसी प्रकार सत्संग से स्वतः निर्विकारता, परम-शान्ति, स्वाधीनता आदि दिव्य-जीवन की अभिव्यक्ति होती है। इस कारण एक मात्र सत्संग ही मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है। बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को सहन करते हुए सत्संग अत्यन्त आवश्यक है। सत्संग के लिये सब कुछ दिया जा सकता है पर सत्संग किसी मूल्य पर छोड़ा नहीं जा सकता। असत् के संग ने ही मानव को अनेक प्रकार के दोषों में आबद्ध कर दिया है। दोषयुक्त जीवन की माँग न तो जगत् को है और न अपने को ही, और न दोष-युक्त जीवन में प्रेम का ही प्रादुर्भाव होता है। अतएव निर्दोषता सुरक्षित रखना मानव मात्र के लिये अनिवार्य है जो एक मात्र असत् के

त्यागपूर्वक सत्संग से ही साध्य है। सत्संग कोई अनुष्ठान तथा अभ्यास नहीं है अपितु मानव का अपना स्वधर्म है। स्वधर्मनिष्ठ हुए बिना धर्मी का सर्वतोमुखी विकास नहीं होता। इस कारण स्वधर्मनिष्ठ होने में ही पुरुषार्थ की परावधि है। इस दृष्टि से सत्संग मानव मात्र का अपना सर्वस्व है; कारण, कि सत्संग से ही मानव को अनुपम, अद्वितीय, पूर्ण जीवन से अभिन्नता होती है।

एक बार का किया हुआ सत्संग सदा के लिये हो जाता है। इस कारण सत्संग अभ्यास नहीं है। जिसे एक बार करना है उसके करने से करने का राग सदा के लिये निवृत्त हो जाता है जिसके होते ही कर्त्तव्य का अभिमान गल जाता है और फिर सदा के लिये भोग की रुचि का नाश हो जाता है। कर्तृत्व के न रहने पर भोगत्व भाव की उत्पत्ति ही नहीं होती अर्थात् जो कर्त्ता नहीं है वह भोक्ता भी नहीं रहता। भोग वासनाओं का नाश होते ही मानव स्वतः योग से अभिन्न होता है। इस दृष्टि से सत्संग से नित्य-योग की अभिव्यक्ति होती है। नित्य-योग ही वास्तविक योग है। संयोग तथा योग में एक बड़ा भेद यह है कि संयोग मानव को पराधीनता में आबद्ध करता है और योग मानव को स्वाधीनता से अभिन्न करता है। पराधीनता में आबद्ध होते ही मानव में जड़ता उत्पन्न होती है जिसके होते ही जाने हुए असत् का संग हो जाता है जो विनाश का मूल है। संयोग की दासता में वियोग का भय निहित है। संयोग की दासता का अन्त होते ही वियोग का भय सदा के लिये स्वतः नाश हो जाता है अर्थात् नित्य योग की अभिव्यक्ति होती है। जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है। नित्य-योग के बिना आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति अर्थात् असमर्थता का नाश नहीं होता जिसके बिना हुए मानव प्राप्त वस्तु, योग्यता,

सामर्थ्य तथा परिस्थिति आदि का सदुपयोग नहीं कर पाता जिसके न करने से जीवन जगत् के लिये उपयोगी नही होता। यह नियम है कि जिसका जीवन जगत् के लिये उपगोगी नहीं होता उसमें जगत् की दासता रहती है जो अवनति का मूल है।

असमर्थता प्राकृतिक दोष नहीं है अपितु भूल-जनित है। भूल का नाश हो सकता है। इस कारण असमर्थता का अन्त अवश्यम्भावी है। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होने पर जो नहीं करना चाहिये उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती और जो करना चाहिये वह स्वतः होने लगता है अर्थात् अकर्त्तव्य का नाश तथा कर्त्तव्य-परायणता सामर्थ्य की अभिव्यक्ति में ही निहित है जो एकमात्र नित्य-योग से ही साध्य है।

मानव के पुरुषार्थ का अन्त सत्संग में ही निहित है। सत्संग से प्रत्येक मानव को नित्य-योग, बोध एवं प्रेम से अभिन्नता होती है। होने और करने में एक बड़ा भेद है। सत्संग के बिना करने का अन्त नहीं होता जिसके बिना हुए करना होने में परिणत नहीं होता, जब तक करना होने में परिणत नहीं होता तब तक निरभिमानता नहीं आती। निरभिमानता के बिना परिच्छिन्नता नाश नहीं होती। परिच्छिन्नता का अन्त हुए बिना भेद तथा भिन्नता का सर्वांश में नाश नहीं होता जो असाधनों का मूल है।

परिच्छिन्नता का अन्तहोते ही कर्त्तव्य परायणता, असंगता एवं आत्मीयता स्वतः सिद्ध होती है। जिसके होते ही मानव योग, बोध तथा प्रेम से अभिन्न होता है जो वास्तविक जीवन है। इतना ही नहीं, साधक का जीवन ही साध्य का स्वभाव है। साधक की अभिन्नता साध्य के स्वभाव से होती है। साध्य का स्वभाव ही साधक को रस प्रदान करने में समर्थ है। इस दृष्टि से प्रत्येक

साधक के लिये अहंकृति रहित सत्संग करना अनिवार्य है।

यद्यपि सत्संग के सहयोगी उपाय को भी सत्संग कहते हैं। परन्तु वास्तविक सत्संग तो अहंकृति रहित होने से ही सिद्ध होता है अर्थात् मूक-सत्संग ही सत्संग है जो प्रत्येक मानव को प्राप्त हो सकता है। जाने हुए का प्रभाव यह प्रेरणा देता है कि मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि को अपना मत मानो अर्थात् जो कुछ मिला है वह व्यक्तिगत नहीं है अपितु, किसी की देन है; जिसकी देन है, उसे भले ही न देखा हो, पर यह सभी को मान्य है कि जो अपना नहीं है वह किसी से मिला है। उस दाता का नाम कुछ भी रख लो अथवा उसको मत मानो तब भी उसकी देन उसके अस्तित्त्व एवं उदारता को सिद्ध करने में समर्थ है। इन्द्रिय-दृष्टि से जिसे नहीं देखा है क्या वह नहीं है? ऐसा मानना भूल है। भला किस उत्पन्न हुई वस्तु ने अपने उस आश्रय को कि जिससे वह उत्पन्न हुआ है, अनुभव किया है? कदापि नहीं। क्या कोई भी उत्पत्ति बिना आश्रय के होती है? क्या मूल उत्पत्ति किसी उत्पत्ति से होगी? नहीं। मूल उत्पत्ति किसी अनुत्पन्न तत्त्व से ही होती है। अतः इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से जिसकी प्रतीति है उसका स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं है। यदि उसका स्वतंन्त्र अस्तित्त्व होता तो प्रवृत्ति के अन्त में उसकी प्राप्ति होती और प्रत्येक प्रवृत्ति स्वतः निवृत्ति में विलीन न होती। किन्तु प्रवृत्ति से प्राप्त सामर्थ्य का व्यय होता है और अन्त में असमर्थता की अनुभूति होती है। उस दशा में विवश होकर मानव निवृत्ति को अपनाता है, जिसके अपनाते ही पुनः सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि सामर्थ्य किसी की देन है, व्यक्तिगत नहीं है। मिले हुए के उपयोग में जो स्वाधीनता है, वह भी वैधानिक है

व्यक्तिगत नहीं है। मिले हुए का दुरुपयोग मानव की अपनी भूल है और उसका सदुपयोग वैधानिक है। इस दृष्टि से अकर्त्तव्य अपना दोष है और कर्त्तव्यपरायणता स्वभाव सिद्ध है। जो स्वभाव सिद्ध है उसका अभिमान आरोपित करना अपनी भूल है, और जो भूल-जनित है उसे प्राकृतिक मान लेना अपने को धोखा देना है जिससे अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश होता है।

जाने हुए का आदर न करना असत् का संग है जिसका त्याग मानवमात्र के लिए अनिवार्य है। जाने हुए का आदर करते ही मिले हुए में ममता नहीं रहती अतः प्रत्येक मानव को स्वतः अनुभव हो जाता है कि जो मिला है, अपना नहीं है। इस अनुभव से निर्विकारता की अभिव्यक्ति होती है जो सभी को स्वभाव से प्रिय है। जो स्वभाव से प्रिय है वही साधन है। इस दृष्टि से असत् के त्याग से ही असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति होती है। जाने हुए का आदर सत्संग है जिसके करते ही निर्ममता से उदित निर्विकारता रूपी साधन की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। निर्विकारता उदय होते ही स्वतः निष्कामता आ जाती है जिसके आते ही परम शान्ति की अभिव्यक्ति होती है। जिसके होते ही असंगता सिद्ध होती है जो मानव को स्वाधीनता से अभिन्न करती है। स्वाधीनता में ही दिव्य-चिन्मय अमर जीवन निहित है। इस दृष्टि से सत्संग से मानव अपने लिये उपयोगी सिद्ध होता है।

जब मानव अपनी वास्तविक माँग से परिचित होता है तब उसे यह स्पष्ट विदित होता है कि जीवन को अपने लिये, जगत् के लिये एवं जगत्पति के लिये उपयोगी होना है; कारण, कि ऐसा हुए बिना किसी न किसी अंश में पराधीनता बनी ही रहती है जो मानव को जड़ता तथा अभाव आदि में आबद्ध करती है। इस

कारण पराधीनता किसी भी मानव को स्वभाव से प्रिय नहीं है। जो स्वभाव से प्रिय नहीं है, उसका सर्वांश में अन्त करना अनिवार्य है जो एक मात्र सत्संग से ही हो सकता है। यह नियम है कि जो अपने लिये उपयोगी सिद्ध होता है वही जगत् के लिये भी उपयोगी होता है और जो अपने तथा जगत के लिये उपयोगी होता है वही उसके लिये भी उपयोगी होता है जिसने उसका तथा जगत् का निर्माण किया है। अतः अपनी वास्तविक माँग से अपरिचित रहना किसी भी मानव के लिये उचित नहीं है। अपनी माँग का परिचय तभी होता है जब मानव जाने हुए का आदर करता है। असत्का त्याग तथा सत् के संग का उद्गम जाने हुए के प्रभाव में ही निहित है।

जाने हुए का अनादर प्राकृतिक दोष नहीं है अपितु मानव की भूल है। भूल को भूल जानते ही उसका अन्त करना अनिवार्य है जो एक मात्र सत्संग से ही साध्य है। असत् के ज्ञान तथा सत् की आस्था से ही सत्संग सिद्ध होता है। सन्देह उसी में होता है जिसकी प्रतीति हो, भास हो परन्तु जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व न हो और आस्था उसी में होती है जिसको इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से न देखा हो फिर भी उसकी माँग हो। जब मानव देखे हुए में अपने को नहीं पाता तब उसे स्वभाव से अपने की माँग होती है। अपने की माँग ही में उसकी आस्था निहित है जिसे जानते नहीं हैं। देखे हुए के सम्बन्ध में जब सन्देह होता है तब "क्या है ?" यह जिज्ञासा जाग्रत होती है। जिज्ञासा की जाग्रति मिले हुए की ममता तथा देखे हुए की कामना को खा लेती है। ममता और कामना का अन्त होने पर सत्संग स्वतः हो जाता है जिसके होते ही कर्त्तव्यपरायणता, असंगता एवं आत्मीयता स्वतः प्राप्त होती है जो जीवन को जगत्

के लिये, अपने लिये एवं जगत्पति के लिये उपयोगी सिद्ध करने में समर्थ है। अतएव यह स्पष्ट विदित होता है कि सत्संग में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

सत्संग में ही मानव स्वाधीन है और सत्संग में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव स्वाधीनतापूर्वक अपने विकास में अग्रसर हो सकता है। विकास से निराश होना अपनी भूल है। भूल के अन्त करने में सदैव सजग तथा तत्पर रहना अत्यन्त आवश्यक है। अहंकृति रहित होने पर विश्राम प्राप्त होता है जिसके होते ही सत् अर्थात् अविनाशी जीवन से संग हो जाता है जिसके होते ही मिले हुए का तादात्म्य शेष नहीं रहता और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक असंगता से प्राप्त चिन्मय-जीवन से अभिन्नता होती है जिसके होते ही मानव अपने ही में अपने प्रेमास्पद का अनुभव कर कृत-कृत्य हो जाता है। पर यह रहस्य उन्हीं साधकों को स्पष्ट होता है जो जाने हुए असत् का त्याग करने को उद्यत हैं। निर्ममता, अचाह तथा अप्रयत्न पूर्वक सत्संग होता है। निर्ममता उन्हीं को प्राप्त होती है जो निज विवेक के प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि से यह स्पष्ट अनुभव करते हैं कि जो कुछ मिला है उस पर अपना स्वतन्त्र अधिकार नहीं है और न मिले हुए का ही स्वतन्त्र अस्तित्त्व है। यह अनुभव मानव को निर्मम बना देता है। निर्मम होते ही मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि की दासता शेष नहीं रहती जिसके मिटते ही निर्विकारता की अभिव्यक्ति अपने आप होती है और फिर मिले हुए का सदुपयोग होने लगता है जिसके होते ही समस्त बाह्य संघर्ष स्वतः मिट जाते हैं। परस्पर विश्वास तथा एकता आ जाती है जो भौतिक विकास में हेतु है अर्थात् पारिवारिक तथा सामाजिक सभी प्रश्न हल हो जाते हैं। पर इतना

ही जीवन नहीं है; कारण, कि मानव की वास्तविक माँग अभाव के अभाव की है। उसके लिये निष्कामता को अपनाना अनिवार्य होता है। निष्कामता सत्संग है; कारण, कि कामनापूर्ति में पराधीनता और नवीन कामना की उत्पत्ति होती है जो मानव को अभाव में आबद्ध करती है। यदि कामनापूर्ति के अन्त में नवीन कामना की उत्पत्ति न होती तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक कामनापूर्ति के प्रलोभन का अन्त हो जाता जिसके होते ही स्वाधीनता के साम्राज्य में मानव प्रवेश पा जाता, पर कामनापूर्ति के सुख-भोग से तो नवीन कामना का जन्म होता ही है। इस कारण निष्कामता के बिना न तो पराधीनता का ही नाश होता है और न परम शान्ति की ही अभिव्यक्ति होती है। इतना ही नहीं, शान्ति सम्पादन के बिना आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति भी नहीं होती जिसके बिना हुए जाने हुए का आदर, मिले हुए का सदुपयोग और सुने हुए में अविचल आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से शान्ति के सम्पादन से ही सत् का संग होता है। शान्ति का सम्पादन अहंकृति रहित होने से स्वतः हो जाता है। जिसे कुछ नहीं चाहिये वही मानव सुगमतापूर्वक अहंकृति रहित होता है। प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि की ममता और अप्राप्त वस्तु आदि की कामना ने ही अहंकृति को जन्म दिया है और अहंकृति ने ही मानव को विश्राम से वंचित किया है। श्रम-रहित हुए बिना जो 'है' उसका अर्थात् सत् का संग सम्भव नहीं है; इस कारण अहंकृति रहित होना प्रत्येक मानव के लिये अनिवार्य है।

यह सभी को मान्य होगा कि **"करने से जो कुछ मिलता है, वह सदैव नहीं रहता"** जो सदैव नहीं रहता वह मानव जीवन का चरम लक्ष्य नहीं हो सकता। जिन उपादानों से कर्म

अनुष्ठान सिद्ध होता है वे सदैव नहीं रहते अर्थात् कृति का फल और उसके साधन नित्य नहीं हैं और न व्यक्तिगत हैं। जिन वस्तुओं में नित्यता नहीं है और जो व्यक्तिगत नहीं हैं उनके आश्रय से अविनाशी जीवन की माँग पूरी नहीं हो सकती। इस कारण अहंकृति रहित होना आवश्यक हो जाता है जो एकमात्र निर्ममता एवं निष्कामता से ही साध्य है। जब मानव यह अनुभव कर लेता है कि मुझे जो कुछ मिला है, वह व्यक्तिगत नहीं है अपितु किसी की सेवा-सामग्री है, तब बड़ी ही सुगमता पूर्वक निष्काम हो जाता है, जिसके होते ही चिर विश्राम पाता है। विश्राम की भूमि में ही आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, विचार का उदय एवं प्रीति की जाग्रति होती है। सामर्थ्य से कर्त्तव्यपरायणता और विचार के उदय से अविचार की निवृत्ति तथा बोध की प्राप्ति और प्रीति की जाग्रति से नित-नव-रस की अभिव्यक्ति स्वतः होती है जो वास्तविक जीवन है। कर्त्तव्यपरायणता के अन्त में मानव को योग स्वतः प्राप्त होता है। इस दृष्टि से योग, बोध और प्रेम से मानव की अभिन्नता होती है। योग, बोध और प्रेम का कभी नाश नहीं होता। इस दृष्टि से सत्संग से ही अविनाशी जीवन की प्राप्ति होती है जो एकमात्र अहंकृति के नाश में ही निहित है। अहंकृति का अन्त किये बिना नित्यप्राप्त नित्यजीवन से अभिन्नता कदापि नहीं हो सकती।

नित्यजीवन की माँग मानव की अपनी माँग है जिसकी पूर्ति अनिवार्य है। माँग की पूर्ति से निराश वे ही मानव होते हैं जो असत् का त्याग अर्थात् सत्संग नहीं करते। इस निराशा से ही बेचारा मानव असत् के संग से उत्पन्न हुई कामनाओं में आबद्ध हो जाता है जिसके होते ही प्राणी सुख की दासता तथा दुःख के भय

से आक्रान्त रहता है जो किसी भी सजग मानव को स्वभाव से प्रिय नहीं है। इस कारण अहंकृति रहित होकर विश्राम का सम्पादन प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में करना अनिवार्य है।

प्राकृतिक नियमानुसार कार्य-क्षेत्र में दो व्यक्ति भी सर्वांश में समान नहीं हैं; कारण, कि वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य, रुचि आदि में भेद है, सभी को समान प्राप्त नहीं हैं किन्तु, विश्राम के साम्राज्य में सभी मानव समान हैं। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि विश्राम का सम्पादन मानवमात्र के लिये अत्यन्त आवश्यक है। समता के विना दीनता तथा अभिमान का नाश नहीं होता और उसके बिना हुए भेद तथा भिन्नता का अन्त नहीं होता। भेद के रहते हुए बोध तथा भिन्नता के रहते हुए प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती। इतना ही नहीं विषमता के रहते हुए योग की प्राप्ति भी नहीं होती। अतएव योग, बोध तथा प्रेम से अभिन्न होने के लिये समता आवश्यक है, जो एकमात्र विश्राम से ही साध्य है। इस दृष्टि से विश्राम में ही मानवमात्र की सफलता निहित है और विश्राम ही एक ऐसा तथ्य है जो सभी को समान रूप से प्राप्त हो सकता है। जो प्राप्त हो सकता है उसकी उपेक्षा करना, उससे निराश होना, उसको वर्तमान जीवन की वस्तु न मानना तथा उसके लिये सजगता पूर्वक तत्पर न रहना भारी भूल है जिसका मानव जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

अहंकृति रहित होते ही स्वतः विश्राम प्राप्त होता है। किन्तु न चाहने तथा न करने पर भी किये हुए का जो प्रभाव अपने में अंकित है वह अपने आप उत्पन्न होता है जिसे साधक व्यर्थ चिन्तन तथा मन की चंचलता के नाम से कथन करते हैं और उसे शान्ति के सम्पादन में विघ्न मानते हैं पर बात ऐसी नहीं है। अहंकृति

काल में तो जो किये हुए का प्रभाव अंकित है वह स्पष्ट रूप से विदित नहीं होता परन्तु रहता है। जिस प्रकार दबा हुआ रोग विदित नहीं होता, उसी प्रकार कार्य में लगे रहने पर, जो कर चुके हैं और जो करना चाहते हैं, उसका प्रभाव प्रतीत नहीं होता। अहं-कृति रहित होते ही वह प्रभाव प्रगट होता है नाश होने के लिये। प्राकृतिक नियमानुसार कोई उत्पत्ति ऐसी होती ही नहीं जिसका नाश स्वतः न हो जाय। अहंकृति ही कारण है उस प्रभाव का जो अंकित है। इस दृष्टि से किसी कृति विशेष से कृति के प्रभाव का नाश नहीं होता। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब विश्राम के द्वारा उस प्रभाव से साधक मुक्त होता है। अहंकृति रहित होने पर जो व्यर्थ-चिन्तन उत्पन्न होता है उससे भयभीत नहीं होना है और न उसका सुख लेना है; न उसका समर्थन करना है और न विरोध, अपितु उससे असहयोग रखना है। जिससे असहयोग हो जाता है उसका प्रभाव अपने पर नहीं रहता। असहयोग विरोध नहीं है। विरोध से तो द्वेष की उत्पत्ति होती है और समर्थन से राग की। असहयोग से राग-द्वेष का नाश होता है जो विकास का मूल है। जब साधक यह जानता है कि चिन्तन मेरे न चाहने पर भी हो रहा है, विना करे हो रहा है, व्यर्थ-चिन्तन के रूप में जो है उसका वर्तमान में अस्तित्त्व नहीं है; तो जो कर नहीं रहे हैं और जिसे चाहते नहीं हैं, उसके प्रभाव से प्रभावित होना क्या अपनी भूल नहीं है ? जिसका अस्तित्त्व ही नहीं है, उससे भयभीत होना क्या प्रमाद नहीं है ? अतएव अपने आप होने वाले व्यर्थ-चिन्तन से अपने को असहयोग करना है और कुछ नहीं। असहयोग करने से अपने पर उसका प्रभाव नहीं होगा। अपना समर्थन तथा विरोध न मिलने से वह व्यर्थ-चिन्तन अपने आप सदा के लिये नाश हो

जायगा। परन्तु बार-बार यह निरीक्षण करना कि नाश हुआ कि नहीं; इससे विरोध पूर्वक सम्बन्ध बन जायगा जो उसे नाश नहीं होने देगा। अतएव बड़ी ही सजगता पूर्वक जो हो रहा है उससे सम्बन्ध विच्छेद करना है। उसका तादात्म्य ही उसे जीवित रखता है। सम्बन्ध विच्छेद से तादात्म्य नाश हो जायगा। साधक अपना आश्रय देकर ही उसे जीवित रखता है। जिसका नाश अभीष्ट हो उसको आश्रय न दो। उसका समर्थन तथा विरोध मत करो। उसे अस्तित्त्वहीन जानो। 'नहीं' की निवृत्ति बिना ही श्रम के स्वतः होती है और 'है' की प्राप्ति में भी श्रम हेतु नहीं है। इस कारण विश्राम मात्र से ही जो अस्तित्त्व-हीन है उसका नाश होगा और जिसका अस्तित्त्व है उससे योग तथा उसका बोध एवं उसमें प्रेम स्वतः होगा। इस दृष्टि से विश्राम में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है।

भुक्त अभुक्त का प्रभाव ही व्यर्थ-चिन्तन के रूप में प्रतीत होता है। मानव जो कर चुका है अथवा जो करना चाहता है वही भुक्त और अभुक्त है। करने के प्रभाव का नाश तभी सम्भव है जब साधक अहंकृति रहित होने पर जो प्राप्त होता है उसका अनुभव कर सके। अहंकृति रहित होते ही साधक को अपने वास्तविक माँग की स्मृति तथा वर्तमान दशा का परिचय होता है जिसके होते ही साधक में सजगता आती है। सजगता आते ही क्या नहीं करना चाहिये उसका स्पष्ट ज्ञान होता है जिसके होते ही की हुई भूल न दुहराने का निर्णय बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो जाता है और फिर वर्तमान निर्दोषता में आस्था होती है। जिसके होते ही जीवन में एक नवीन उत्साह जाग्रत होता है। जो मानव को वास्तविकता की खोज करने में तत्पर कर देता है जो विकास का मूल है। कृति का महत्त्व

पर-हित में ही है। अपने लिये किसी भी मानव को कभी भी कुछ भी नहीं करना है। पर यह रहस्य उस समय तक स्पष्ट नहीं होता जब तक मानव अपनी वास्तविक माँग को भली भाँति अनुभव नहीं कर लेता। मानव की जो माँग है उसकी पूर्ति किसी परि-स्थिति आदि में आश्रित नहीं है। जो कुछ करते हैं उससे जिसकी उत्पत्ति होती है वह सदैव नहीं रहता और कर्मानुष्ठान भी 'पर' के आश्रय के बिना नहीं होता। इस दृष्टि से कर्म और उसका फल स्वाधीनता प्रदान करने में समर्थ नहीं है। कर्त्तव्य का महत्त्व तो केवल इसी बात में है कि मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा शरीर, परिवार, समाज आदि की सेवा की जाय जिससे संग्रह की रुचि का नाश हो और प्राप्त वस्तु, योग्यता आदि से असंगता प्राप्त हो जिसके होने से उस जीवन में प्रवेश हो जाय जो अविनाशी है। अविनाशी जीवन की माँग मानव की अपनी माँग है जिसकी पूर्ति अहंकृति रहित असंग होने पर ही सम्भव है। अहंकृति रहित हुए बिना प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य से तादात्म्य नाश नहीं होता और उसके नाश हुए बिना अवस्थातीत जीवन में प्रवेश नहीं होता जो अनुत्पन्न हुआ नित्य जीवन है। अहंकृति का मूल काम है। काम की निवृत्ति एकमात्र विचार-सिद्ध है; कारण, कि उसकी उत्पत्ति अविवेक से होती है। अविवेक का अन्त विवेक के आदर में निहित है। विवेक के आदर की सामर्थ्य शान्ति में ही उदित होती है। इस कारण निर्ममता तथा निष्कामता पूर्वक शान्ति का सम्पादन अनिवार्य है। निर्ममता तथा निष्कामता जाने हुए असत् के त्याग से ही सिद्ध होती है। अतएव सत्संग से जिसकी उपलब्धि होती है, उसकी प्राप्ति कर्म सापेक्ष नहीं है। कर्त्तव्य कर्म से तो केवल दूसरों के अधिकार की रक्षा तथा करने के राग की निवृत्ति

होती है, वह भी तब जब अपने अधिकारों का त्याग कर दूसरों के अधिकारों की रक्षा की जाय। अधिकार लोलुपता में आबद्ध मानव कर्त्तव्यकर्म करते हुए भी कर्तृत्व के अभिमान तथा राग से रहित नहीं हो सकता। अधिकारों के त्याग की सामर्थ्य एकमात्र विचार से ही साध्य है; कारण, कि अधिकार-लोलुपता अविचार से ही उत्पन्न होती है। अहंकृति रहित शान्ति का सम्पादन होने पर जिज्ञासा पूर्ति के लिये स्वतः विचार का उदय होता है, यह मंगल-मय विधान है। जब तक निष्कामता से साध्य समता की अभिव्यक्ति नहीं होती, तब तक अविचार की निवृत्ति के लिये विचार का उदय भी नहीं होता।

विचार कोई श्रम-साध्य प्रयोग नहीं है, अपितु आवश्यकता होने पर उसकी अभिव्यक्ति स्वतः होती है जो अविचार के नाश में समर्थ है। निष्कामता किसी श्रम-साध्य प्रयोग से सिद्ध नहीं होती अपितु कामनापूर्ति में पराधीनता और अपूर्ति में अभाव रहता ही है। इस वास्तविकता का अनुभव करने पर साधक बड़ी ही सुगमता पूर्वक अपने को निष्काम स्वीकार करता है। निष्कामता स्वधर्म है, सत्संग है, शरीर धर्म नहीं। शरीर धर्म का पालन श्रम-साध्य है। स्वधर्म के पालन में श्रम की गंध भी नहीं है। स्वधर्मनिष्ठ होने पर शरीरधर्म का पालन प्राकृतिक नियमानुसार स्वतः होने लगता है और फिर अपने आप देहाभिमान गल जाता है जिसके गलते ही स्वतः चिर-विश्राम की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से सत्संग का बड़ा ही महत्त्व है। चाह-रहित होने में जो विकास निहित है वह किसी अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है। चाह-रहित होने का प्रश्न मानव का मौलिक प्रश्न है। कामनापूर्ति तो अन्य योनियों में भी होती है किन्तु अचाह-पद की प्राप्ति तो एकमात्र मानव ही

को होती है। इस दृष्टि से चाहरहित होना मानवमात्र के लिये अनिवार्य है।

निष्काम होने पर आवश्यक कामनाओं की पूर्ति अपने आप होती रहती है और अनावश्यक कामनाओं की उत्पत्ति नहीं होती। निष्काम-साधक के लिये आवश्यक वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य प्रदान करने को प्रकृति लालायित रहती है। निष्कामता की महिमा वर्णन करना सम्भव नहीं है। निष्काम होने पर ही निष्कामता के महत्त्व का अनुभव होता है। योगियों का योग, विचारशीलों का बोध एवं प्रेमियों का प्रेम निष्कामता की भूमि में ही पोषित होता है। निष्काम होने में प्रत्येक मानव सर्वदा स्वाधीन है और कामनापूर्ति में सभी प्राणी सर्वदा पराधीन हैं। स्वाधीनता का पुजारी स्वाधीनता पूर्वक निष्काम हो सकता है। निष्कामता मानव की वर्तमान माँग है। उसे शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करना अनिवार्य है।

जिसे कुछ नहीं चाहिये वह सभी का अपना हो सकता है अर्थात् सर्वात्म भाव की अभिव्यक्ति भी निष्कामता में ही निहित है। निष्काम होने पर ही परमशान्ति तथा असंगता की अभिव्यक्ति होती है जो चिन्मय जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है।

जिसे कुछ भी चाहिये वह किसी को अपना नहीं कह सकता और न सुने हुए प्रभु में अविचल आस्था ही सुरक्षित रख पाता है और न दूसरों से सुख की आशा का ही त्याग कर पाता है। इतना ही नहीं, कामनायुक्त प्राणी ही अपने दुःख का कारण दूसरों को मानता है। अतएव मानव निष्काम हुए बिना राग-द्वेष रहित नहीं हो सकता जिसके बिना हुए त्याग तथा प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती जो वास्तविक जीवन है, कारण, कि त्याग अमरत्त्व से और प्रेम अनन्त रस से अभिन्न करता है।

अहंकृति के आश्रित ही अहम्भाव रूपी अणु जीवित रहता है जिसके रहते हुए सर्वांश में भेद तथा भिन्नता का अन्त नहीं होता जो विनाश का मूल है। अहंकृति रहित होते ही अहंरूपी अणु स्वतः नाश हो जाता है जिसके होते ही योग, बोध तथा प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से अहंकृति रहित होना अनिवार्य है जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है।

अहंकृति मानव को सत् से विमुख कर देती है तथा असत् से उसका सम्बन्ध जोड़ देती है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि असत् के संग मात्र से ही अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्ति उत्पन्न होती है जो विनाश का मूल है।

अहंकृति रहित होने के लिये प्रत्येक कार्य के आरम्भ और अन्त में मानव को सजगतापूर्वक स्वतः आने वाली शान्ति को सुरक्षित रखना है। ज्यों-ज्यों शान्ति स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, कर्त्तव्यपरायणता, विचार का उदय तथा प्रीति की जाग्रति स्वतः होती जाती है; कारण, कि शान्ति में ही समस्त साधनों की अभिव्यक्ति होती है। शान्ति रस-रूप है। नीरसता की भूमि में ही असाधन उत्पन्न होते हैं। अतएव शान्ति समस्त साधनों की जननी है। किन्तु सावधान-साधक शान्ति का सम्पादन तो करते हैं पर उसमें रमण नहीं करते। शान्ति में रमण न करने से स्वाधीनता के रस की अभिव्यक्ति होती है। जब साधक स्वाधीनता के रस में सन्तुष्ट नहीं होता तब स्वतः प्रेमतत्त्व की अभिव्यक्ति होती है जिसके होते ही अहं रूपी अणु सदा के लिये गल जाता है। प्रेमतत्त्व में प्रेम के अतिरिक्त प्रेमी का कोई अस्तित्त्व नहीं है। किसी भी अहंकृति-युक्त उपाय से नीरसता का सर्वांश में नाश नहीं होता। क्रियाजनित सुख से नीरसता दब जाती

है, मिटती नहीं। दबी हुई नीरसता पूर्व की अपेक्षा अधिक तीव्र होकर प्रगट होती है। नीरसता के रहते हुए काम का नाश नहीं होता जो समस्त विकारों का मूल है।

नीरसता का अन्त करने के लिये शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम की अभिव्यक्ति अनिवार्य है जो एकमात्र सत्संग से ही सम्भव है। 'है' में आस्था और उसका संग तभी सम्भव होगा जब मानव श्रम रहित होने का स्वभाव बनाये। अकर्मण्यता मानव को श्रम-रहित नहीं होने देती और आवश्यक कार्य जमा रखने से भी मानव श्रमित ही होता है। श्रमित होने से असमर्थता आती है अर्थात् प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास होता है। श्रम रहित होने के लिये वर्तमान कार्य को पूरा करना है किन्तु क्रियाजनित सुख का भोग नहीं करना है और न किये हुए कार्य के फल में ही आस्था रखनी है। फलासक्ति तथा कर्त्तव्य के अभिमान से रहित प्रवृत्ति का अन्त श्रम रहित होने में अर्थात् विश्राम में होता है जिसके होते ही अपने आप शान्ति का सम्पादन होने लगता है। शान्ति का सम्पादन तथा सत्संग युगपद होते हैं। सत्संग कोई अभ्यास नहीं है अपितु स्वधर्म है। अभ्यास के लिये शरीर आदि की अपेक्षा होती है। किन्तु सत्संग अपने ही द्वारा उपलब्ध होता है। इस दृष्टि से सत्संग में मानव सर्वदा स्वाधीन है। जिसकी सिद्धि अपने द्वारा होती है उसकी प्राप्ति में पराधीनता नहीं है। श्रम-साध्य सभी प्रवृत्तियाँ पराधीनता से ही सिद्ध होती हैं। पर-सेवा के लिये पराधीनता साधनरूप भले ही हो पर अपने लिये तो स्वाधीनता पूर्वक सत्संग ही उपयोगी है। इतना ही नहीं, सेवा की पूर्णता भी सत्संग से ही सिद्ध होती है। सेवा का क्रियात्मक रूप भले ही श्रम-साध्य हो किन्तु उसका वास्तविक रूप तो सत्संग से ही सिद्ध होता है।

सेवा की अभिव्यक्ति उसी साधक में होती है जो किसी को बुरा न समझे। किसी को बुरा न समझना सत्संग है। जब साधक किसी को बुरा नहीं समझता तब अशुद्ध संकल्पों की उत्पत्ति ही नहीं होती। अशुद्ध संकल्पों का नाश होने पर अकर्त्तव्य का जन्म ही नहीं होता। इतना ही नहीं, द्वेष तथा विषमता भी शेष नहीं रहती। समता योग, तथा बोध की जननी है। द्वेष का अन्त होते ही प्रेम का प्रादुर्भाव स्वतः होता है। इस दृष्टि से सत्संग जनित सेवा द्वारा मानव कर्त्तव्य-परायणता योग, बोध तथा प्रेम से अभिन्न होता है। अतः वास्तविक सेवा सत्संग से ही साध्य है।

सेवा, त्याग, प्रेम इन तीनों के रस में भेद है, स्वरूप में नहीं। इनमें से किसी एक की उपलब्धि होने पर तीनों ही की प्राप्ति होती है; कारण, कि ये तीनों ही एक ही जीवन की विभूतियाँ हैं। जीवन की पूर्णता इन तीनों ही में निहित है। श्रम-रहित होने पर साधक को सर्वप्रथम अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति का वास्तविक परिचय होता है। भूतकाल की घटनाओं की स्मृति साधक को यह बता देती है कि भूतकाल में क्या भूल की है। उस भूल का परिचय होने पर उसके त्याग का निर्णय अनिवार्य होता है। भूल जनित सुख लोलुपता का अन्त भूल की वेदना में निहित है। भूल करने पर मानव अपनी ही दृष्टि से अपने को आदर के योग्य नहीं पाता जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है। अपनी दृष्टि में आदर के योग्य बिना हुए निश्चिन्तता तथा निर्भयता नहीं आती जो विकास का मूल है। भय तथा चिन्ता में आबद्ध प्राणी का विकास नहीं होता; यह प्राकृतिक विधान है। इस कारण मानवमात्र को भय तथा चिन्ता से रहित होना अनिवार्य है जो एक मात्र भूतकाल की भूल भली-भाँति अनुभव करने से ही सम्भव है। अपनी भूल का

अनुभव अपने को श्रमरहित होने पर ही होता है। इस दृष्टि से अहंकृति रहित होकर मूक-सत्संग करना प्रत्येक मानव का अपना परम पुरुषार्थ है जिसको विना किये सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं है। अतएव प्रत्येक कार्य के आरम्भ तथा अन्त में श्रम रहित होना अत्यन्त आवश्यक है। कोई भी प्रवृत्ति स्वभाव से अखण्ड नहीं है। कर्त्ता में करने की रुचि भले ही रहे पर वह किसी भी कर्म को निरन्तर नहीं कर सकता। प्राकृतिक नियमानुसार कर्म का आरम्भ तथा अन्त होता ही है, इतना ही नहीं, कर्म का परिणाम भी सदैव नहीं रहता। जो सदैव नहीं रहता वह वास्तविक जीवन नहीं है। इस दृष्टि से कर्म और उसका फल नित्य नहीं है। इसी कारण कर्म अनुष्ठान में मानव सर्वांश में स्वाधीन नहीं है किन्तु श्रमरहित होने में साधक सर्वदा स्वाधीन है। करने के राग तथा फल की आशा ने साधक को प्रवृत्ति के अन्त में विश्राम से अभिन्न नहीं होने दिया। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह हुआ कि मानव अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति से परिचित न हो सका जिसके विना हुए भूलजनित प्रवृत्तियों का अन्त न कर सका।

भूलजनित प्रवृत्तियों से ही जीवन अनुपयोगी होता है। अनुपयोगी जीवन की माँग न व्यक्ति को है और न समाज को। उपयोगी जीवन ही सभी को अभीष्ट है। अपनी की हुई भूल का त्याग विना किये जीवन उपयोगी नहीं होता। इस दृष्टि से भूल का अनुभव करना प्रत्येक मानव के लिये अनिवार्य है जो एकमात्र विश्राम से ही साध्य है। विश्राम का महत्त्व भूल जाने से मानव शरीरादि वस्तुओं की दासता में आबद्ध हो गया है। इतना ही नहीं, उत्पन्न हुई वस्तुओं से इतना तादात्म्य हो गया है कि वस्तुओं से अतीत के जीवन में न तो आस्था ही होती है और न मानव उसकी

खोज ही करता है यद्यपि अनुत्पन्न हुए अविनाशी जीवन की माँग मानव में स्वभाव से ही है। जिसकी माँग है उसमें आस्था न हो अथवा उसकी खोज न की जाय, इसके समान और कोई जड़ता नहीं है। सजगता के विना जड़ता का नाश नहीं होता और श्रम रहित हुए विना सजगता जाग्रत नहीं होती। श्रमकाल में तो मानव मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि से तद्रूप रहता है। तादात्म्य के रहते हुए वस्तुओं से अतीत के जीवन की खोज नहीं हो सकती। इस कारण वस्तुओं से तादात्म्य का अन्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

प्राकृतिक नियमानुसार सुषुप्ति अर्थात् गहरी नींद में मिली हुई वस्तु, योग्यता आदि की विस्मृति होती है जिसके होने पर वस्तुओं के उपयोग करने की सामर्थ्य आती है किन्तु वस्तुओं से तादात्म्य नाश नहीं होता; कारण, कि जड़ता में लय होने से मानव वस्तुओं से अतीत के जीवन का अनुभव नहीं कर पाता। यद्यपि वस्तुओं से अतीत का जीवन नित्यप्राप्त है उससे देश-काल की दूरी नहीं है; मिले हुए के तादात्म्य के कारण नित्य-प्राप्त अप्राप्त जैसा प्रतीत होता है और जिन उत्पन्न हुई वस्तुओं में सतत् परिवर्तन हो रहा है वे अपनी प्रतीत होती हैं और उनकी कामना उत्पन्न होती रहती है; यह जानते हुए भी कि सभी कामनाएँ पूरी नहीं होतीं, फिर भी मानव निष्काम नहीं हो पाता। यह मिली हुई वस्तुओं के तादात्म्य का ही परिणाम है। यदि मानव आवश्यक प्रवृत्ति के अन्त में श्रम रहित होकर जाग्रत में ही सुषुप्तिवत् हो जाय तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक उत्पन्न हुई वस्तुओं से अतीत के जीवन में प्रवेश पा सकता है। श्रमरहित होने पर भी गति रहती है पर इस रहस्य को वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने ममता और कामना का अन्त

कर वास्तविक माँग का अनुभव किया है। वास्तविक माँग की जाग्रति श्रम-रहित होने पर ही होती है। कामनाओं की पूर्ति के लिए श्रम अपेक्षित है और श्रम के लिए शरीरादि वस्तुओं की आवश्यकता होती है। विश्रामकाल में शरीरादि वस्तुओं से असंगता बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो जाती है जो मानव को पराधीनता से मुक्त कर स्वाधीनता से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से विश्राम बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक कार्य के आरम्भ तथा अन्त में विश्राम स्वतः प्राप्त होता है, पर विश्राम के महत्त्व में आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास न होने के कारण विश्रामकाल में भी मानव विश्राम से विमुख रहता है और फिर किये हुए की फलासक्ति में आवद्ध हो जाता है; यह जानते हुए भी कि किये हुए का परिणाम अविनाशी नहीं है, विश्राम का आदर नहीं करता। विश्राम के आदर किये विना सत्संग सम्भव नहीं है अर्थात् असत् का संग वना ही रहता है। जिसके रहने से न चाहते हुए भी अनेक दोषों की उत्पत्ति होती है अर्थात् वर्तमान निर्दोषता का वोध नहीं होता। वर्तमान निर्दोषता का अनुभव किये बिना निर्दोषता में अविचल आस्था नहीं होती अपितु मानव भूतकाल की भूल के आधार पर निवृत्ति में भी अपने को अपराधी मानता रहता है। जव कुछ नहीं कर रहा है, तव भी अपने को अपराधी मानता है, यह मान्यता भ्रमात्मक है। इसका त्याग करना अनिवार्य है। 'कुछ न करना' अपराध नहीं है अपितु वास्तविकता है। यदि करना अखण्ड होता तो न करने का कोई स्थान ही न होता। करना अखण्ड नहीं है, इस अनुभव के आधार पर यह स्वीकार करना कि 'विश्राम का भी जीवन में स्थान है' मानव मात्र के लिये परम आवश्यक है। यह सभी को विदित है कि श्रम से शक्ति का

ह्रास और श्रमरहित होने पर शक्ति का संचय होता है तो फिर विश्राम का आदर न करना, उसे न अपनाना, उसके महत्त्व को भूल जाना क्या अपने को वास्तविकता से वंचित नहीं करना है। वास्तविकता से अपरिचित रहना, अपने ही द्वारा अपने को धोखा देना है जो अवनति का मूल है। मानव जीवन अवनति से उन्नति की ओर गतिशील होने के लिये मिला है। अतः प्रत्येक मानव के लिये अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति से भली भाँति परिचित होना अनिवार्य है जो एकमात्र विश्राम से ही साध्य है।

मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का सदुपयोग करने में ही श्रम का महत्त्व है किन्तु वास्तविक जीवन से अभिन्न होने के लिए तो विश्राम ही मूल प्रयास है। विश्राम सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक कार्य की पूर्ति तथा अनावश्यक कार्य की निवृत्ति अभीष्ट है। सामर्थ्य और विवेक के अनुरूप जो कार्य है उसे विश्राम को सुरक्षित रखने की दृष्टि से पूरा करना है और विवेक विरोधी कार्य का त्याग तथा सामर्थ्य विरोधी कार्य को समर्पित करना अनिवार्य है। आवश्यक कार्य की पूर्ति तथा अनावश्यक कार्य की निवृत्ति होने पर विश्राम स्वतः सुरक्षित रहता है। विश्राम कोई अवस्था नहीं है अपितु वास्तविक तथ्य है। अवस्थाओं के तादात्म्य से मानव परिच्छिन्नता में आबद्ध होता है किन्तु विश्राम के सुरक्षित रहने पर सजगता, असंगता एवं आत्मीयता आदि साधनों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है और कर्तव्यनिष्ठ होने के लिए आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति भी विश्राम में ही निहित है। इस दृष्टि से विश्राम सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

सत् की चर्चा, उसके चिन्तन एवं सत् के संग में बड़ा भेद है। सत् की चर्चा तथा उसका चिन्तन श्रमसाध्य है किन्तु सत् का संग

श्रमरहित होने से ही सम्भव है। सत् की चर्चा तथा चिन्तन करने के लिये मानव को शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की अपेक्षा होती है; कारण, कि श्रम का सम्पादन शरीरादि के बिना सम्भव नहीं है किन्तु सत् का संग करने के लिये तो शरीर के सहयोग की आवश्यकता नहीं होती। वह तो श्रमरहित होने पर अपने आप हो जाता है। जब तक साधक उन्हीं प्रवृत्तियों को महत्त्व देता है जिनके लिये उसे वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि की आवश्यकता होती है तब तक विश्राम-से-साध्य सत् का संग नहीं होता। सत् की चर्चा तथा उसका चिन्तन सत्संग का सहयोगी उपाय भले ही हो पर सत्संग तो एकमात्र विश्राम से ही साध्य है। सत् की चर्चा तथा उसके चिन्तन से सत्संग की अभिरुचि जाग्रत होती है, सत् का संग नहीं होता अर्थात् सत्संग की माँग सबल होती है। सत्संग की माँग में असत् के त्याग की सामर्थ्य निहित है किन्तु सत् का संग तो एकमात्र अहंकृति रहित विश्राम में ही निहित है। सत्संग का प्रभाव शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि पर स्वतः होता है।

जिस प्रकार असत् के संग के प्रभाव से इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में अनेक दोषों की प्रतीति होती है, उसी प्रकार सत् के संग से स्वतः दोषों की निवृत्ति होती है जिनके होते ही अपने आप निर्दोषता से अभिन्नता हो जाती है। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार करण गुण-दोष रहित होते हैं, कर्त्ता का चित्र ही उनमें प्रतिबिम्बित होता है पर मानव उस प्रतिबिम्ब को इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का ही दोष मान लेता है। यह सभी को विदित है कि प्रतिबिम्ब बिम्ब नहीं होता अपितु प्रतिबिम्ब के द्वारा बिम्ब का बोध होता है। बिम्ब में परिवर्तन होने से प्रतिबिम्ब बदल जाता है। मानव अपनी भूल को ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में आरोपित करता है

और उसकी निन्दा करने लगता है। उससे उसकी बड़ी क्षति होती है। यदि श्रमरहित होकर मानव सत्संग को अपना ले तो बड़ी सुगमतापूर्वक निर्दोषता से अभिन्न हो जाता है। सत्संग के द्वारा उसमें की हुई भूल पुनः न दुहराने की सामर्थ्य आ जाती है जिसके आते ही निर्दोषता सदा के लिए सुरक्षित हो जाती है। जिसके सुरक्षित होने से शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में दोषों की प्रतीति नहीं होती अपितु निर्दोषता का प्रभाव स्वतः हो जाता है जिसके होते ही सभी करण कर्त्ता में विलीन हो जाते हैं और फिर कर्त्ता कर्त्ता न रह कर वास्तविक जीवन का जिज्ञासु रह जाता है। जिज्ञासा की पूर्ति होने पर प्रेम का प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है जो वास्तविक जीवन है अथवा यों कहो कि विश्रामपूर्वक सत्संग से ही मानव योग, बोध एवं प्रेम से अभिन्न होता है जो सभी को अभीष्ट है। अपने लक्ष्य से निराश होने के समान और कोई भारी भूल नहीं है। इस भूल का मानव जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। अतएव योग, बोध तथा प्रेम मानवमात्र का लक्ष्य है। उसकी अभिव्यक्ति हो सकती है। उसके लिये एकमात्र अहंकृति रहित होना अनिवार्य है। अहंकृति का उद्‌गम अविवेक है जो निज विवेक के आदर से ही मिट सकता है। जब मानव पराधीनता में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार कर लेता है तब अहंकृति उत्पन्न होती है जिसके होते ही देहाभिमान पोषित होता है। अहंकृति रहित बिना हुए देहाभिमान का अन्त हो नहीं सकता; कारण, कि करने की रुचि ही मानव को देह के तादात्म्य में आबद्ध करती है जो पराधीनता का मूल है। प्राकृतिक नियमानुसार पराधीनता की पीड़ा स्वाधीनता की माँग जाग्रत करने में समर्थ है। स्वाधीनता की उत्कट लालसा पराधीनता-जनित सुख लोलुपता को खा लेती है और फिर मानव बड़ी ही

सुगमतापूर्वक निर्ममता, निष्कामता एवं असंगता से अभिन्न होता है जिसके होते ही निर्विकारता, परम शान्ति एवं स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से पराधीनता की पीड़ा में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है। पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने के समान और कोई असावधानी नहीं है। असावधानी के रहते हुए मानव जाने हुए असत् का त्याग नहीं कर सकता जो मानव का परम पुरुषार्थ है। असावधानी का अन्त करने के लिये मानव को वर्तमान में सजगतापूर्वक अथक प्रयास करना है। उसके लिये बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को सहर्ष सहन करना अनिवार्य है। कठिनाइयों से भयभीत होना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। प्राकृतिक नियमानुसार कठिनाई आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करने में समर्थ है अर्थात् कठिनाई असमर्थता का अन्त करने के लिये आती है। इसी कारण सत्संग-प्रेमी-मानव आई हुई कठिनाइयों का आदरपूर्वक स्वागत करते हैं। उससे भयभीत नहीं होते। कठिनाई प्राकृतिक तप है। तप से शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। अतएव कठिनाइयों में ही विकास निहित है। इस दृष्टि से कठिनाइयों का बड़ा महत्त्व है। कठिनाई आने पर पर्वत के समान अचल रहना अत्यन्त आवश्यक है। कठिनाई आने पर विचलित हो जाना असमर्थता को जन्म देना है। जो मानव कठिनाई में विचलित नहीं होते उन्हें आवश्यक सामर्थ्य अवश्य प्राप्त होती है, यह मंगलमय विधान है। विधान का आदर करने पर सर्वतोमुखी

पराधीनता जनित सुख का प्रलोभन तथा दुःख का भय उत्पन्न होता है। इस कारण जाने हुए असत् के संग का त्याग करना अनिवार्य है जो अपने ही द्वारा सम्भव है। असत् का त्याग अपने को अपने ही द्वारा करना है। उसके लिये शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के सहयोग की अपेक्षा नहीं है। कामनापूर्ति के लिये शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के सहयोग की अपेक्षा होती है, परन्तु निर्ममता, निष्कामता एवं असंगतापूर्वक सत्संग के लिये किसी भी उत्पन्न हुई वस्तु की अपेक्षा नहीं होती। वस्तु आदि की कामना जिसमें है वह स्वयं उनका त्याग कर सकता है।

अब विचार यह करना है कि कामनाएँ क्या अपने में नहीं हैं ? उनकी पूर्ति का सुख तथा अपूर्ति का दुःख क्या अपने को नहीं होता ? जिसे सुख-दुःख होता है उसे ही कामनाओं का त्याग करना है। जो कुछ मिला है, वह अपना नहीं है यह अनुभव अपने ही द्वारा अपने को करना है। इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से तो मिले हुए की प्रतीति होती है पर उससे नित्य-सम्बन्ध नहीं रहता। इसका अनुभव अपने ही द्वारा अपने को होता है अथवा यों कहो कि निज विवेक के प्रकाश में मानव स्वयं इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को अपने से भिन्न अनुभव करता है। यह सब सामग्री है, स्वरूप नहीं। जो अपने से भिन्न है उसकी ममता तथा कामना का त्याग अपने द्वारा सम्भव है। मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये, यह निर्णय मानव को अपने ही द्वारा करना है। जो मिला है उसके द्वारा अपनी माँग पूरी नहीं होती। निर्ममतापूर्वक मिले हुए के सदुपयोग द्वारा मानव जगत् के लिये उपयोगी होता है पर अपने लिये उपयोगी होना निर्ममता, निष्कामता एवं असंगता में ही निहित है। अपने लिये उपयोगी सिद्ध होने पर मिली हुई वस्तु, योग्यता,

सामर्थ्य द्वारा दूसरों के अधिकार की रक्षा करना तथा अपने अधिकार का त्याग सहज हो जाता है जिसके होते ही मानव राग रहित होता है। राग रहित भूमि में ही योग, बोध तथा प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से मानवमात्र को अपने लिये गी होने के लिये अथक प्रयत्नशील रहना है जो एकमात्र ग से ही साध्य है।

सत्संग के महत्त्व को भूल जाना अपने ही द्वारा अपना विनाश ा है। अविनाशी का संग ही सत् का संग है। उत्पन्न हुई ुओं की ममता, कामना एवं तादात्म्य ने मानव को सत् से विमुख किया है। यह कैसा आश्चर्य है कि जो 'है' अर्थात् जिसका स्वतन्त्र अस्तित्त्व है, जिससे देशकाल आदि की दूरी नहीं है अपितु जो सर्वत्र तथा सर्वदा है उससे मानव विमुख हो जाय और जो प्रतीति मात्र है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता है, एवं जो अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करता उसके पीछे दौड़ें और परिणाम स्वरूप अभाव में आबद्ध हो जायँ।

अभाव का अभाव करना मानवमात्र को अभीष्ट है। इस माँग की पूर्ति हो सकती है। इससे निराश होना सर्वथा त्याज्य है। अपितु वास्तविक जीवन के लिये नित-नव उत्कंठा तथा उत्साह एवं नित-नव आशा होनी चाहिये। जिसकी उपलब्धि में निराशा के लिये कोई स्थान ही नहीं है, उससे निराश हो जाना अपने जाने हुए असत् का संग करना है जो विनाश का मूल है। जिसकी प्राप्ति मानवमात्र के लिये अवश्यम्भावी है उसके लिये उत्कट तीव्र लालसा का न होना भारी भूल है। इतना ही नहीं जो लालसामात्र से ही प्राप्त होता है उसे वर्तमान जीवन की वस्तु न मानना अपने ही द्वारा अपने को वास्तविक जीवन से वंचित करना है।

विलास आदि का जन्म संग्रह से ही होता है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं जिन्होंने निर्ममता, निष्कामता पूर्वक मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का सदुपयोग किया है। इस दृष्टि से उत्पादन आवश्यक है और संग्रह त्याज्य है। संग्रह का बीज ममता तथा कामना है जो असत् का संग है। उत्पादन-कर्त्ता में सर्वहित-कारी सद्भावना रहती है और संग्रहकर्त्ता में अपने सुख का प्रलोभन रहता है। अपने सुख का प्रलोभन अपने विनाश का बीज है; कारण, कि सुख-लोलुपता पर-पीड़ा से रहित करती है। पर-पीड़ा से रहित होते ही परस्पर संघर्ष उत्पन्न होता है जो विनाश का मूल है। अपने सुख का प्रलोभन अपने जाने हुए असत् का संग है। पर-पीड़ा से पीड़ित होने पर ही मानव सुख के प्रलोभन से रहित होता है जो विकास का मूल है। पर-पीड़ा संग्रह की रुचि का नाश कर उत्पादन में प्रवृत्त करती है। उत्पादन समाजोपयोगी है और संग्रह समाज के लिये घातक है। संग्रह की रुचि का नाश होने पर प्रत्येक कर्त्तव्य के अन्त में कर्त्ता श्रमरहित होता है और फिर बड़ी ही सुगमता-पूर्वक सत्संग से अभिन्न हो कृत-कृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि के सदुपयोग में विश्राम निहित है।

जाने हुए का प्रभाव होने पर मानव बड़ी ही सुगमतापूर्वक देहाभिमान से रहित हो जाता है जिसके होते ही सभी वासनायें स्वतः मिट जाती हैं।

यह सभी को मान्य है कि वासनाओं के नाश में ही चिर-विश्राम तथा स्वाधीनता निहित हैं। जाने हुए के प्रभाव से असत् का त्याग तथा सत् का संग स्वतः होता है। जाने हुए के अनादर से ही मानव सत् से विमुख होता है। इतना ही नहीं, जो मानव

अपने जाने हुए का आदर नहीं करता वह सद्गुरु तथा सद्ग्रन्थ आदि के ज्ञान का भी आदर नहीं कर पाता। अपने जाने हुए का आदर करने पर सभी के ज्ञान का आदर हो जाता है; कारण, कि ज्ञान में एकता है भिन्नता नहीं। ज्ञान किसी भाषा में आबद्ध नहीं है। भाषा तो एकमात्र माध्यम है और कुछ नहीं, जाने हुए के प्रकाशन का संकेत मात्र है। जिस पर अपने जाने हुए का प्रभाव नहीं होता, उस पर किसी के सन्देश, आदेश, उपदेश आदि का भी प्रभाव नहीं होता। जिस जिस अंश में मानव अपने जाने हुए का आदर करता है उसी उसी अंश में मानव सद्ग्रन्थों तथा सद्पुरुषों की वाणी का आदर करता है।

प्राकृतिक नियमानुसार अर्थ की अभिव्यक्ति होने पर ही भाषा का प्रादुर्भाव होता है। किसी भाषा के अर्थ को अपनाने के लिये जाने हुए का प्रभाव अत्यन्त आवश्यक है। यदि भाषा मात्र से ही वास्तविक ज्ञान का बोध होता तो शब्दों के अर्थ में भिन्नता न होती। शब्द कल्पतरु के समान हैं। इस कारण जाने हुए का प्रभाव होने पर ही वास्तविक अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। अनुभव से पूर्व मान लेना आस्था है, ज्ञान नहीं। विकल्परहित आस्था ज्ञान के समान प्रतीत होती है। जाने हुए का प्रभाव मानव को निर्दोष जीवन से अभिन्न करता है। विकल्परहित आस्था के आधार पर दोषों का त्याग करना पड़ता है और जाने हुए के प्रभाव से दोष स्वतः निवृत्त होते हैं। इस दृष्टि से जाने हुए के प्रभाव में विकास निहित है। जाने हुए के प्रभाव से कर्त्तव्य-परायणता, निर्ममता एवं निष्कामता स्वतः प्राप्त होती है जिससे मानव श्रमरहित हो

से अनावश्यक संकल्प अर्थात् व्यर्थचिन्तन नाश हो जाता है। इस कारण जाने हुए का प्रभाव मानव को चिर विश्राम से अभिन्न करने में समर्थ है। व्यर्थचिन्तन का नाश हुए बिना विश्राम से अभिन्नता नहीं होती। इस दृष्टि से जाने हुए का प्रभाव अत्यन्त आवश्यक है।

व्यर्थ-चिन्तन से प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास होता है और आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होती और न जिज्ञासा ही जाग्रत होती है। इस दृष्टि से व्यर्थ-चिन्तन सर्वथा त्याज्य है जो एक-मात्र जाने हुए के प्रभाव में ही निहित है। जाने हुए का प्रभाव-जो नहीं करना चाहिये उसके त्याग की प्रेरणा देता है और जिसे नहीं कर सकते उससे भी असंग करता है। प्राकृतिक नियमानुसार जिसे जो करना है उसे उसके करने की सामर्थ्य स्वतः प्राप्त होती है। अतः जो नहीं कर सकते उसके करने का दायित्व नहीं है। परन्तु जो नहीं करना चाहिये उसका त्याग अनिवार्य है।

त्याग विवेकसिद्ध है, श्रम-साध्य नहीं। जाने हुए के प्रभाव से मानव विवेकवित हो जाता है जो विकास का मूल है। इस दृष्टि से जाने हुए के प्रभाव से भी मानव चिर-विश्राम से अभिन्न होता है।

जाने हुए के अनादर से ही मानव देहाभिमान में आबद्ध होता है जो व्यर्थ-चिन्तन का मूल है। व्यर्थचिन्तन के होते हुए वलपूर्वक सार्थक-चिन्तन करने से मानव मिथ्या अभिमान में आबद्ध होता है। इतना ही नहीं, श्रम-साध्य चिन्तन मानव करता रहता है और व्यर्थ-चिन्तन होता रहता है। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति में वेचारे मानव में दीनता तथा अभिमान की अग्नि प्रज्वलित होती है। जाने हुए का प्रभाव देहाभिमान से रहित कर व्यर्थ-चिन्तन से मुक्त

करता है। व्यर्थ-चिन्तन का अन्त होते ही सार्थक चिन्तन स्वतः उदित होता है। अभिमान रहित प्रवृत्ति साधक को सहज निवृत्ति से अभिन्न करती है जो विश्राम की मूल है। सार्थक और निरर्थक चिन्तन की द्वन्द्वात्मक स्थिति परिच्छिन्नता को जीवित रखती है। परिच्छिन्नता में आबद्ध मानव दूरी, भेद तथा भिन्नता को अपना लेता है। दूरी योग से, भेद बोध से और भिन्नता प्रेम से मानव को अभिन्न नहीं होने देती। इस कारण द्वन्द्वात्मक स्थिति का अन्त करना अनिवार्य है जो एकमात्र जाने हुए के प्रभाव से ही सम्भव है। जाने हुए का प्रभाव सुरक्षित रखने के लिये प्रत्येक कार्य के आरम्भ और अन्त. में शान्ति का सम्पादन अत्यन्त आवश्यक है। शान्ति का संपादन होते ही अपने आप व्यर्थ-चिन्तन की प्रतीति होती है। यदि मानव अपने आप होने वाले चिन्तन से सहयोग न करे अपितु असहयोग कर निश्चिन्त हो जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक व्यर्थ-चिन्तन का नाश होता है जो जाने हुए के प्रभाव में ही निहित है।

व्यर्थ-चिन्तन के मिटाने तथा सार्थक-चिन्तन के करने में मानव सदैव श्रमित रहता है। यह सभी को मान्य है कि श्रम से मिली हुई सामर्थ्य का ह्रास ही होता है और विश्राम से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। यदि साधक जाने हुए के प्रभाव को अपनाकर व्यर्थ-चिन्तन से असहयोग कर शान्त हो जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक व्यर्थ-चिन्तन भी मिट जाता है और श्रम-रहित होने से स्वतः सार्थक-चिंतन, विचार का उदय एवं

के अनादर से ही असत् का संग होता है। असत् के संग से असाधन, अकर्त्तव्य, आसक्ति आदि दोषों की उत्पत्ति होती है और सत्संग से असाधन आदि की निवृत्ति और साधन की अभिव्यक्ति होती है। साधन की अभिव्यक्ति होने पर साधन और जीवन में भेद नहीं रहता अर्थात् एकता होती है जो सफलता की कुंजी है। इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से जो देखने में आता है उसके सम्बन्ध में जिज्ञासा हो सकती है; कारण, अधूरे ज्ञान में ही सन्देह की वेदना उत्पन्न होती है। सन्देह की वेदना में ही जिज्ञासा की जाग्रति निहित है परन्तु जिसके सम्बन्ध में केवल सुना है जिसे इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से देखा नहीं, उसमें ही आस्था, श्रद्धा और विश्वास होता है। अपने कारण का ज्ञान किसी कार्य को नहीं होता। यद्यपि कार्य में सत्ता कारण की ही होती है तथापि कार्य कारण को विषय नहीं करता अपितु उसको प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से हम सबका जो आश्रय तथा प्रकाशक है उसे हम इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से देख नहीं पाते किन्तु उसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं।

प्राकृतिक नियमानुसार कोई भी उत्पत्ति बिना आधार के और कोई भी प्रतीति बिना प्रकाशक के नहीं होती। अतः सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्रतीति जिससे हुई है, वह आश्रय तथा प्रकाशक समस्त विश्व का है और उसमें प्रत्येक मानव अविचल आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास कर सकता है जिसके करते ही स्वतः आत्मीयता जाग्रत होती है। जो अगाध प्रियता की जननी है। शरीरादि उत्पन्न हुई वस्तुओं को अपना मान लेना भूल है। परन्तु जिससे समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई है और प्रकाशित है उसे अपना न मानना भी भारी भूल है अर्थात् उत्पन्न हुई वस्तुओं की ममता, कामना एवं तादात्म्य बनाये रखना भी भूल है और सर्वाधार, सर्व के आश्रय एवं सर्व के

प्रकाशक को अपना न मानना भी भूल है। इस भूल का अन्त करना मानव मात्र के लिये अनिवार्य है। निर्ममता, निष्कामता एवं आत्मीयता स्वीकार न करना असत् का संग है जिसका त्याग मानव मात्र को करना है। अपनेपन से जो प्रियता जाग्रत होती है वह अविनाशी है। इस दृष्टि से आत्मीयता में ही अगाध अनन्त प्रियता निहित है। प्रियता स्वभाव से ही रसरूप है। प्रियता की अभिव्यक्ति में ही नीरसता का अत्यन्त अभाव है। नीरसता के नाश में ही निर्विकारता निहित है; कारण, कि नीरसता की भूमि में ही काम-क्रोध आदि दोषों की उत्पत्ति होती है। अतः नीरसता का अन्त करना अत्यन्त आवश्यक है जो प्रियता की जाग्रति मात्र से बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो जाता है। इस दृष्टि से अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक अपने निर्माता में आत्मीयता स्वीकार करना मानव मात्र के लिये अत्यन्त आवश्यक है। जिसने मानव का निर्माण किया है, उसने अपने को इतना छिपाया है कि उसका दिया हुआ सब कुछ अपना ही मालूम होता है किन्तु जब मानव अपने आश्रय तथा प्रकाशक की आवश्यकता अनुभव करता है तब वे उसे अपनी आत्मीयता प्रदान करते हैं, यह उनकी सहज कृपालुता है। आत्मीयता प्राप्त होते ही जीवन प्रीति से परिपूर्ण हो जाता है। प्रीति ने अपने प्रियतम से भिन्न को देखा ही नहीं। इस दृष्टि से प्रीति से अभिन्न होकर ही मानव अपने प्रियतम को अपने ही में पाता है; कारण, कि प्रीति ही में प्रियतम का नित्यवास है और प्रीति प्रीतम ही का स्वभाव है। अतएव आस्था, श्रद्धा, विश्वास को अपनाकर मानव बड़ी ही सुगमतापूर्वक वास्तविक जीवन से अभिन्न होता है।

आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक अपने को समर्पण करने पर भी नित्य-विश्राम की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से जो विश्राम

मिले हुए के सदुपयोग से तथा जाने हुए के प्रभाव से प्राप्त होता है वही विश्राम सुने हुए की अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास से भी होता है। जिन साधकों में क्रियाशक्ति की प्रधानता और विचार तथा भावशक्ति गौण है वे मिले हुए का दुरुपयोग न करने का निर्णय कर सत्संग प्राप्त करते हैं और कर्त्तव्यनिष्ठ होकर चिर विश्राम पाते हैं और जिन साधकों में विचार-शक्ति की प्रधानता तथा भाव एवं क्रियाशक्ति गौण है वे ममता, कामना को त्याग, असंग होकर चिर विश्राम पाते हैं और जिन साधकों में भावशक्ति की प्रधानता तथा विचारशक्ति और क्रियाशक्ति गौण है वे आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक शरणागत हो विश्राम पाते हैं। विश्राम से अभिन्न होने पर मानव-मात्र का सर्वतोमुखी विकास होता है; कारण, कि विश्राम से असत् की निवृत्ति तथा सत् का संग स्वतः हो जाता है। मिले हुए का सदुपयोग, जाने हुए का प्रभाव और सुने हुए प्रभु में अविचल आस्था सत् का संग है जो एकमात्र अपने जाने हुए असत् के त्याग से ही सम्भव है। मिले हुए का दुरुपयोग, जाने हुए का अनादर एवं सुने हुए में अश्रद्धा असत् का संग है जिसका मानव जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव अपनी वास्तविक माँग की पूर्ति से निराश नहीं होता। काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति मानव की मौलिक माँग है जिसकी पूर्ति एकमात्र सत्-संग में ही निहित है।

प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में शान्ति के सुरक्षित रहने पर स्वतः सत्संग हो जाता है। अतः शान्ति को सुरक्षित रखने में ही मानव के पुरुषार्थ की परावधि है। अहंकृति और पुरुषार्थ में बड़ा भेद है। अहंकृति तो मानव को देहाभिमान में आबद्ध करती है

और पुरुषार्थ देहाभिमान से रहित करता है। अहंकृति का उद्गम काम है जो असत् के संग से उत्पन्न होता है और पुरुषार्थ का उद्गम विश्राम है जो सत्संग से ही साध्य है। सत्संग के बिना चैन से रहना मानव जीवन का घोर अपमान है। सत् की आस्था तथा असत् के त्याग से ही सत्संग होता है। सत्संग किसी श्रमसाध्य प्रयोग से सिद्ध नहीं होता अपितु अहंकृति रहित होने से ही सिद्ध होता है।

जब मानव जाने हुए असत् का त्याग नहीं करता और सुने हुए सत् में अविचल आस्था नहीं रखता तब सत्संग से विमुख हो जाता है जो विनाश का मूल है। प्राप्त सामर्थ्य के दुरुपयोग से असमर्थता उत्पन्न होती है। उसका परिणाम यह होता है कि मानव मिले हुए का सदुपयोग एवं जाने हुए का आदर तथा सुने हुए में अविचल श्रद्धा नहीं कर पाता। उस असमर्थता का अन्त तभी हो सकता है जब अहंकृति रहित शान्ति का सम्पादन किया जाय। कुछ न करने में सामर्थ्य की अपेक्षा नहीं है अपितु जो कर चुके हैं उसके परिणाम पर विचार करने की आवश्यकता है। किये हुए का परिणाम अविनाशी नहीं है और मानव की माँग अविनाशी जीवन की है। माँग की जाग्रति में सजगता निहित है। सजगता आने पर जो नहीं करना चाहिये उसके न करने का निर्णय स्वाभाविक हो जाता है। यह असत् का त्याग है। इसके करते ही असमर्थता मिटने लगती है और स्वतः आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है और फिर जाने हुए का प्रभाव, मिले हुए का सदुपयोग तथा सुने हुए में आस्था स्वतः होती है जो वास्तव में सत्संग है।

मानव जीवन की सार्थकता एकमात्र सत्संग में ही निहित

है। इतना ही नहीं, सत्संग ही मानव मात्र का परम पुरुषार्थ है। मानव के अतिरिक्त कोई अन्य प्राणी सत्संग नहीं कर सकता; कारण, कि मानव को स्वभाव से ही असत् का परिचय है। असत् का ज्ञान सत्संग की प्रेरणा देता है। असत् के संग से ही समस्त विकारों की उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से सत्संग के बिना निर्विकारता की प्राप्ति किसी अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है। निर्विकारता स्वभाव से ही सभी को प्रिय है। विकारयुक्त जीवन किसी को भी अभीष्ट नहीं है; कारण, कि मानव विकारयुक्त होने से अपने को अपनी दृष्टि में आदर के योग्य नहीं पाता। इस दृष्टि से निर्विकारता में जो सौन्दर्य है वह किसी अन्य में नहीं है।

विकारों में आबद्ध मानव कभी भी परम-शान्ति तथा स्वाधीनता प्राप्त नहीं कर पाता। शान्ति के बिना सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होती और स्वाधीनता के बिना चिन्मय जीवन से अभिन्नता नहीं होती अर्थात् जड़ता का नाश नहीं होता। जड़ता ने ही मानव को कर्तव्यपरायणता, असंगता एवं आत्मीयता से विमुख किया है, कर्तव्यपरायणता के बिना जीवन जगत के लिये और असंगता के बिना जीवन अपने लिये एवं आत्मीयता के बिना जीवन अपने निर्माता के लिये उपयोगी नहीं होता। इस दृष्टि से जड़ता का अन्त करना अनिवार्य है जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है।

सत्संग के लिये असत् के आश्रय की लेशमात्र भी अपेक्षा नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि सत्चर्चा तथा सत्चिन्तन असत् के आश्रय से हो सकता है; किन्तु चर्चा, चिन्तन सत् का, और आश्रय असत् का—यह कहाँ तक युक्ति-युक्त है, इस पर विचार करना मानव-मात्र के लिये अनिवार्य है। यद्यपि सत् की चर्चा और सत् का चिन्तन मानव को सजगता प्रदान करता है परन्तु सत्संग के

बिना केवल चर्चा और चिन्तन से ही सन्तुष्ट हो जाना घोर प्रमाद है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सत् की चर्चा तथा सत् का चिन्तन व्यर्थ है परन्तु चर्चा तथा चिन्तन मात्र को ही सत्संग मान लेना भूल अवश्य है। सत् की चर्चा के लिये किसी न किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा होती है और सत् का चिन्तन मानव अपने द्वारा ही कर सकता है किन्तु उसके लिये शरीर का आश्रय लेना पड़ता है। जिस कार्य के लिये पराश्रय अपेक्षित होता है वह कार्य मानव को स्वाधीनता से अभिन्न नहीं कर सकता और स्वाधीनता के बिना वास्तविक जीवन का बोध नहीं हो सकता जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है। पराश्रय का अन्त करने के लिये निज विवेक का आदर करना अत्यन्त आवश्यक है।

यह सभी को मान्य होगा कि इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि निज ज्ञान के प्रकाश में ही कार्य करती हैं अर्थात् दृष्टि का उपयोग प्रकाश के बिना सिद्ध नहीं होता और प्रकाश ही दृश्य को सत्ता देता है। मानव को इन्द्रिय तथा बुद्धि दृष्टि प्राप्त है। दृष्टि से तादात्म्य होने पर मानव प्रकाश के रहते हुए भी उससे विमुख हो जाता है। यदि मानव दृष्टि के प्रभाव से अपने को प्रभावित न होने दे तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक निज विवेक के प्रकाश का आदर कर असत् के संग का त्याग अर्थात् सत्संग कर सकता है। सत्संग के लिये मानव को असत् के आश्रय का त्याग करना अनिवार्य है।

जिस पर अपना स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, जिससे नित्ययोग सम्भव नहीं है उसका तादात्म्य ही असत् का आश्रय है। असत् के आश्रय मात्र से ही ममता, कामना आदि दोषों की उत्पत्ति होती है। ममता के रहते हुए निर्विकारता की अभिव्यक्ति और कामना के रहते हुए चिरशान्ति सम्भव नहीं है। निर्विकारता तथा शान्ति

के बिना असमर्थता का नाश नहीं होता। असमर्थता का अर्थ सामर्थ्य का अभाव नहीं है अपितु प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का दुरुपयोग ही वास्तव में असमर्थता है। जो कुछ नहीं कर सकता, वह वह भी नहीं कर सकता जो नहीं करना चाहिये अर्थात् अकर्तव्य में प्रवृत्ति उसकी नहीं होती जो कुछ नहीं कर सकता। इस दृष्टि से असमर्थता का वास्तविक अर्थ प्राप्त सामर्थ्य के दुरुपयोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग मानव एकमात्र निज विवेक के अनादर से ही करता है। यह सभी को विदित है कि उत्पत्ति में विनाश, संयोग में वियोग एवं सुख में दुःख निहित है अर्थात् मृत्यु, वियोग तथा दुःख का भय मानव-मात्र अनुभव करता है। यद्यपि भययुक्त जीवन किसी को भी स्वभाव से प्रिय नहीं है परन्तु असत् से तादात्म्य होने के कारण बेचारा मानव उत्पत्ति में विनाश का, संयोग में वियोग का तथा सुख में दुःख का स्पष्ट दर्शन नहीं करता। उसका परिणाम यह होता है कि बेचारा मानव सुख की दासता तथा दुःख के भय में आबद्ध हो जाता है। सुख की दासता ने ही चिरशान्ति से और वियोग के भय ने ही नित्य-योग से मानव को विमुख कर दिया है।

प्राकृतिक नियमानुसार चिरशान्ति तथा नित्ययोग मानव-मात्र का जन्मजात अधिकार है। किन्तु सत्संग के बिना मानव अपने लक्ष्य से विमुख हो गया है। यद्यपि उसकी माँग बीज रूप से सभी में विद्यमान है परन्तु असत् के संग से उत्पन्न हुई संयोग की दासता ने उस विद्यमान माँग को शिथिल बना दिया है। यदि मानव भूल-जनित असत् के संग का त्याग कर सत्संग को अपना ले तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक संयोग की दासता मिट सकती है और नित्ययोग की प्राप्ति हो सकती है। नित्ययोग के बिना चैन से रहना अपने

ही द्वारा अपना विनाश करना है। नित्ययोग से निराश होना और संयोग की आशा रखना मानव की अपनी भूल है। इस भूल का अन्त करने का दायित्व मानव ही पर है। दायित्व पूरा करने की सामर्थ्य मानव को स्वतः प्राप्त है। दायित्व पूरा न करना व्यक्तिगत दोष है जिसकी निवृत्ति किये बिना किसी भी प्रकार मानव विकासोन्मुख नहीं हो सकता। व्यक्तिगत दोष का अनुभव करना मानव-मात्र के लिये अनिवार्य है। अपने दोष का ज्ञान अपने को स्वतः निर्दोषता से अभिन्न कर देता है। निर्दोषता नित्यतत्व है। वह उत्पत्ति-विनाश रहित है। इसी कारण उससे अभिन्नता होती है।

दोष सभी उत्पन्न होते हैं। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता उससे सर्वांश में एकता नहीं होती अर्थात् किसी न किसी अंश में दूरी, भेद तथा भिन्नता रहती ही है। इस दृष्टि से दोषों का अन्त और निर्दोषता से एकता हो सकती है। निर्दोषता से निराश होने के समान और कोई भारी भूल नहीं है। दोषयुक्त जीवन में भी निर्दोषता की माँग रहती ही है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि दोषों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है अर्थात् सभी दोष भूल-जनित हैं, प्राकृतिक नहीं। किन्तु निर्दोषता प्राकृतिक तथ्य है। जो प्राकृतिक तथ्य है उसकी प्राप्ति सहज तथा स्वाभाविक होती है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं जिन्होंने जाने हुए असत् के त्याग द्वारा सत्संग को अपनाया है।

सत् की चर्चा तथा सत् का चिन्तन सत् की जिज्ञासा से आरम्भ होता है। सत् की जिज्ञासा की पूर्ति असत् के त्याग में निहित है। इस दृष्टि से असत् के आश्रय का सर्वांश में त्याग करना ही सत्संग

का सहज, सुगम तथा स्वाभाविक उपाय है। उत्पन्न हुई वस्तुओं की ममता, कामना एवं तादात्म्य ही असत् का संग है। जिस किसी को जो कुछ मिला है, वह किसी की देन है। किन्तु मिले हुए को अपना मान लेना, अपनी ही भूल है। अपनी भूल का अन्त करते ही मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि की ममता शेष नहीं रहती। निर्मम होते ही निष्कामता स्वतः आ जाती है। जब मिला हुआ ही अपना नहीं है तो अप्राप्त की कामना कुछ अर्थ नहीं रखती। निर्मम होने पर निष्कामता स्वतः सिद्ध होती है जो विकास की जननी है।

अब यदि कोई यह कहे कि निष्काम होने से तो भौतिक विकास ही न होगा; कारण, कि कामना से प्रेरित होकर ही मानव भौतिक उन्नति में प्रवृत्त होता है। पर वास्तविकता यह नहीं है। भौतिक विकास प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग अर्थात् वर्तमान कर्त्तव्य कर्म से होता है। अप्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि की प्राप्ति प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के सदुपयोग में है न कि कामना में। कामना में फंसा हुआ मानव व्यर्थचिन्तन में आबद्ध होता है। व्यर्थचिन्तन से प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास ही होता है अप्राप्त सामर्थ्य की प्राप्ति नहीं होती। इतना ही नहीं, प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास होने से वर्तमान कर्तव्यकर्म सांगोपांग सम्पन्न नहीं होता। इस दृष्टि से कामना कर्त्तव्यपरायणता में बाधक है, सहायक नहीं। कामनायुक्त प्राणी सदैव अपने अधिकार और दूसरों के कर्तव्य पर ही दृष्टि रखता है। निष्काम होते ही दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार के त्याग की सामर्थ्य स्वतः आती है। दूसरों के अधिकार की रक्षा ही कर्त्तव्य का मूर्तिमान चित्र है और कर्त्तव्य-परायणता ही भौतिक विकास की जननी है। इस दृष्टि से निष्काम

होना मानव मात्र के लिये अनिवार्य है। भौतिक उन्नति कामनायुक्त प्राणियों की होती है, इसमें लेशमात्र भी वास्तविकता नहीं है। पर-पीड़ा से पीड़ित प्राणियों ने ही भौतिक उन्नति की है और व्यक्तिगत सुख-लोलुपता में आबद्ध होने से ही भौतिक अवनति होती है। निष्कामता के बिना व्यक्तिगत सुख-लोलुपता का नाश नहीं होता। इस कारण निर्ममतापूर्वक निष्कामता प्राप्त करना भौतिक उन्नति के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

यह सभी को मान्य होगा कि जो मानव अपने व्यक्तिगत सुख को ही महत्व देता है वह परिवार के लिये अनुपयोगी हो जाता है; कारण, कि व्यक्तिगत सुख के त्याग में ही तो परहित निहित है। जो अपने परिवार की उन्नति में ही सन्तुष्ट होता है, वह समाज के लिये अनुपयोगी हो जाता है। उसी प्रकार जो अपने वर्ग, देश, समाज की उन्नति को ही उन्नति मानता है वही दूसरे देश, वर्ग, आदि के लिये अहितकर सिद्ध होता है। यह प्राकृतिक नियम है कि जो दूसरों के लिये अहितकर सिद्ध होता है उसका हित कभी नहीं होता अपितु जो सभी के हित में रत है उसका हित अवश्य होता है। निर्ममता तथा निष्कामता के बिना सर्वहितकारी सद्भावना की जाग्रति ही नहीं होती। सभी के विकास में अपना विकास निहित है, इस वैज्ञानिक तथ्य को अपनाये बिना भौतिक उन्नति भी नहीं हो सकती। यद्यपि भौतिक उन्नति मात्र में ही मानव-जीवन की पूर्णता नहीं है परन्तु भौतिक उन्नति के लिये भी वास्तविकता का आदर तथा अनुसरण अनिवार्य है। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य व्यक्तिगत नहीं है अपितु कर्त्तव्यपालन के लिये किसी की देन है। मानव उस दाता को भले ही न माने अथवा न जाने परन्तु जो अपनी नहीं है वह किसी की देन तो है ही। इस निज

अनुभव का आदर बिना किये किसी को भी चिरशान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती जो वास्तविक जीवन है।

भौतिक विकास तथा आध्यात्मिक जीवन एक ही जीवन दो पहलु हैं। इनमें विभाजन करना भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मानव मात्र को सुख और शान्ति चाहिये। सुख यदि भौतिक विकास है तो शान्ति आध्यात्म जीवन है। शान्ति-रहित सुख और सुख-रहित शान्ति किसी को भी अभीष्ट नहीं है। यद्यपि सुख के भोगी को शान्ति नहीं मिलती परन्तु शान्ति के पुजारी को सुख अवश्य मिलता है पर यह रहस्य वे ही मानव जानते हैं जिन्होंने सत्संग के द्वारा सुख की दासता तथा दुःख के भय का अन्त कर चिरशान्ति तथा नित्ययोग से अभिन्नता प्राप्त की है।

सुख लोलुपता योग में भले ही बाधक हो किन्तु लोलुपता-रहित-सुख योग में बाधक नहीं है। सुख एक अवस्था है जो संकल्प-पूर्ति से उत्पन्न होती है। चिरशान्ति अवस्थातीत जीवन है जो एकमात्र नित्ययोग से ही साध्य है और नित्ययोग सत्संग में ही निहित है। इस दृष्टि से सत्संग ही सर्वतोमुखी विकास का मूल है। भौतिक विकास कर्त्तव्यपरायणता का बाह्य रूप है और नित्ययोग कर्त्तव्यपरायणता का आन्तरिक फल है। कर्तव्यपरायणता मानव को राग रहित कर नित्ययोग से अभिन्न करती है और नित्ययोग सिद्ध होने पर कर्तव्यपरायणता स्वतः आ जाती है। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कोई कर्त्तव्यनिष्ठ होकर नित्ययोग प्राप्त करता है और कोई नित्ययोग प्राप्त कर कर्त्तव्यनिष्ठ होता है अर्थात् कर्त्तव्यपरायणता में नित्ययोग एवं नित्ययोग में कर्त्तव्यपरायणता ओत-प्रोत हैं। परन्तु सत्संग के बिना न तो मानव विवेक विरोधी कर्म को त्याग कर्त्तव्यनिष्ठ ही होता है और

न विवेक विरोधी सम्बन्ध को त्याग नित्ययोग से ही अभिन्न होता है। अतएव, सत्संग में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है।

सत्संग कोई अभ्यास तथा अनुष्ठान नहीं है अपितु निज विवेक के आदर का फल है। जो मानव अपने अनुभव का आदर नहीं करता, वह सत्संग से विमुख हो जाता है। निज अनुभव का आदर वर्तमान पुरुषार्थ है। उसके लिये भविष्य की आशा करना भारी भूल है। वर्तमान का सदुपयोग करते ही मानव भूतकाल की भूल के परिणाम से मुक्त हो जाता है और उसका भविष्य भी उज्ज्वल होता है। अतएव वर्तमान में ही निज अनुभव का आदर कर सत्संग करना अनिवार्य है। सत्संग वर्तमान ही की वस्तु है। की हुई भूल को न दोहराने की प्रेरणा एकमात्र सत्संग से ही मिलती है। की हुई भूल को न दोहराना ही भूल का अन्त करना है। भूल के नाश में ही वास्तविकता से अभिन्नता निहित है। इस दृष्टि से शीघ्रातिशीघ्र भूल को भूल जानकर भूल का अन्त करना मानव मात्र के लिये अनिवार्य है। वास्तविकता का नाश नहीं होता अपितु उसकी विस्मृति होती है। वास्तविकता की विस्मृति ही भूल है। उसके अतिरिक्त भूल का और कोई अस्तित्व नहीं है।

विस्मृति का अन्त करने के लिये आवश्यक कार्य की पूर्ति और अनावश्यक कार्य का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। विवेक तथा सामर्थ्य के अनुरूप जो कार्य है उसके पूरा करने में कोई भी मानव पराधीन तथा असमर्थ नहीं है। इस दृष्टि से आवश्यक कार्य वास्तव में सहज तथा स्वाभाविक है किन्तु सत्संग के बिना जो करना चाहिये तथा जिसे कर सकते हैं वह भी कठिन-सा प्रतीत होता है। जो नहीं करना चाहिये उसमें प्रवृत्ति तभी होती है जब मानव निज अनुभव का अनादर करता है अर्थात् असत् का संग करता है। निज

अनुभव का आदर करते ही जो नहीं करना चाहिये उसके त्य का बल स्वतः आ जाता है और फिर कर्त्तव्यपरायणता सह तथा स्वाभाविक हो जाती है। कर्त्तव्य के अन्त में भी स्वतः विश्रा प्राप्त होता है परन्तु निष्कामता के बिना विश्राम का बोध न होता। विश्राम में ही विस्मृति का नाश तथा अखण्ड स्मृति व जाग्रति निहित है; कारण, कि विश्राम-काल में अपने आप सत् क संग हो जाता है। जिस प्रकार असत् के संग से असाधन की उत्पत्ति और साधन की विस्मृति होती है उसी प्रकार सत् के संग से असा धन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति होती है। असाधन के रहते हुए बलपूर्वक किया हुआ साधन सत् की चर्चा तथा सत् का चिन्तन है, सत्संग नहीं।

सत्संग से पूर्व साधन और जीवन में एकता नहीं होती। प्राकृतिक नियमानुसार सर्वांश में असत् का संग नहीं होता। इस कारण सर्वांश में असाधन भी नहीं रहता। आंशिक साधन तो मानव-मात्र में स्वभाव से ही रहता है। सत्संग से आंशिक असाधन की निवृत्ति और सर्वांश में साधन की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। अतः सत्संग ही मानव का परम पुरुषार्थ है। असत् का संग भूल-जनित है। इसी कारण उसकी निवृत्ति होती है और सत् का संग सहज तथा स्वाभाविक है। इसी से वह मानव मात्र के लिये साध्य है। अतएव सत्संग से कभी निराश नहीं होना चाहिये अपितु सत्संग के लिये नित-नव-उत्साह तथा उत्कण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, यही सत्संग की भूमि है। सत्संग को अस्वाभाविक मानना असत् के संग को पोषित करना है। निज अनुभव में विकल्प न करने से सत्संग स्वतः हो जाता है।

पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने से ही मानव अपने

अनुभव का अनादर करता है। उसी का यह भयंकर परिणाम होता है कि मानव आंशिक साधन के अभिमान और आंशिक असाधन की आसक्ति में आबद्ध हो जाता है। साधन और असाधन की द्वन्द्वात्मक स्थिति मानव में परिच्छिन्नता उत्पन्न करती है। यह सभी को मान्य है कि परिच्छिन्नता दूरी, भेद और भिन्नता की जननी है अर्थात् परिच्छिन्नता मानव को योग, बोध तथा प्रेम से विमुख कर देती है। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति का अन्त सत्संग के बिना किसी अभ्यास विशेष से सम्भव नहीं है; कारण, कि अभ्यास के लिये तो उत्पन्न हुई शरीरादि वस्तुओं का आश्रय लेना पड़ता है। उत्पन्न हुई वस्तुओं के आश्रय ने ही मानव को अनुत्पन्न हुए सत् से विमुख कर दिया है। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि के सदुपयोग के लिये भले ही अभ्यास की अपेक्षा हो किन्तु सत्संग के लिये तो किसी भी श्रमयुक्त अभ्यास की अपेक्षा नहीं है।

ममता, कामना, तादात्म्य के नाश में सत्संग निहित है। मिली हुई वस्तुओं की ममता का नाश वस्तुओं के आधीन नहीं है अपितु निज अनुभव के आदर से ही साध्य है। अपने अनुभव का आदर न करना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। किसी भी प्रलोभन तथा भय से निज अनुभव का अनादर करना भारी भूल है। इस भूल का मानव जीवन में कोई स्थान ही नहीं है अपितु बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को हर्षपूर्वक सहन करते हुए निज अनुभव का आदर करना अनिवार्य है। अनुभव का आदर करने के लिये किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है अपितु अपने ही द्वारा अपने को करना है। निज अनुभव के आदर से उसे प्रसन्नता होगी जिसने विवेक रूपी प्रकाश प्रदान किया है, और अपना कल्याण होगा। इस दृष्टि से निज अनुभव का आदर बड़े ही महत्त्व की वस्तु है जिसके करने में

मानव-मात्र सर्वदा स्वाधीन है। स्वाधीनता पूर्वक प्रत्येक मानव वास्तविक जीवन से अभिन्न हो सकता है, यह सत्संग की महिमा है। सत्चर्चा, सत्चिन्तन तथा सत्कर्म से मानव अपने व्यक्तित्व को सुन्दर वनाता है परन्तु सत्संग के बिना व्यक्तित्व की दासता से मुक्त नहीं हो सकता। व्यक्तित्व की दासता में आबद्ध मानव अपने लिये तथा जगत् के लिये उपयोगी सिद्ध नहीं होता। जो अपने लिये तथा जगत् के लिये ही अनुपयोगी है, वह भला अपने निर्माता, प्रकाशक तथा आश्रय के लिये उपयोगी हो ही कैसे सकता है ? परन्तु सत्संग के द्वारा व्यक्तित्व की दासता से रहित होने पर मानव स्वतः सभी के लिये उपयोगी होता है।

असत्-कर्म, असत्-चिन्तन, असत्-चर्चा की अपेक्षा सत्-कर्म, सत्-चिन्तन एवं सत्-चर्चा बड़े ही महत्त्व की वस्तु हैं, परन्तु असत् का आश्रय रखते हुए सर्वांश में सत् का संग सम्भव नहीं है। अत-एव सत्-चर्चा, सत्-चिन्तन एवं सत्कर्म के अभिमान से रहित होकर सत्संग आवश्यक है। मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य अपने लिये नहीं है अपितु पर-सेवा के लिये है, जिसने यह अनुभव किया है, वह बड़ी ही सुगमता पूर्वक सत्-चर्चा, सत्-चिन्तन एवं सत्-कर्म के अभिमान से रहित हो सत्संग प्राप्त कर कृत-कृत्य हो जाता है। सत्संग से सत्-चर्चा, सत्-चिन्तन एवं सत्-कर्म स्वतः होता है, करना नहीं पड़ता; कारण, कि सत् का संग होते ही मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का सदुपयोग तथा संयम स्वतः हो जाता है, देहाभिमान गल जाता है। इतना ही नहीं दोषों की उत्पत्ति ही नहीं होती और गुणों का अभिमान शेष नहीं रहता, यह सत्संग की महिमा है।

यह सभी को मान्य होगा कि सत्-चर्चा, सत्-चिन्तन तथा सत्-कर्म के लिये किसी न किसी परिस्थिति की अपेक्षा होती है। प्रत्येक

परिस्थिति स्वभाव से ही परिवर्तनशील तथा पर-प्रकाश्य है। अत-एव परिस्थिति का आश्रय मानव को सत्संग से विमुख कर देता है। सत्संग के लिये प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग भले ही अपे-क्षित हो किन्तु सभी परिस्थितियों से असंग हुए बिना सत् का संग सहज तथा स्वाभाविक नहीं होता जिसके बिना नित्ययोग किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।

परिस्थितियों का आश्रय मानव को संयोग की दासता तथा वियोग के भय में आबद्ध करता है जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है। परिस्थिति का सदुपयोग भी तभी संभव होगा जब जो नहीं करना चाहिये अथवा जिसे नहीं कर सकते उसका त्याग कर दिया जायगा। कर्त्तव्यनिष्ठ होने के लिये अकर्त्तव्य का त्याग अनिवार्य होता है। अकर्त्तव्य की उत्पत्ति असत् के संग से ही होती है। असत् का त्याग और अकर्त्तव्य का नाश युगपद होता है। अकर्त्तव्य के नाश में ही कर्त्तव्यपरायणता निहित है। इस दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग भी सत्संग से ही साध्य है। परिस्थिति का सदुपयोग मानव को सभी परिस्थितियों से अतीत जो जीवन है उससे अभिन्न करने में समर्थ है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना अपने को स्वाधीनता से विमुख कर पराधीनता में आबद्ध करना है। स्वाधीनता मानव-मात्र की स्वाभाविक माँग है। उसकी पूर्ति एक मात्र सत्संग द्वारा नित्ययोग से होती है। परिस्थितियों का सदुप-पयोग विद्यमान राग की निवृत्ति में हेतु है किन्तु अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान करना नवीन राग को जन्म देना है। राग रहित हुए बिना नित्ययोग की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतएव परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि का त्याग असत् का त्याग अर्थात् सत् का संग है। सत्संग से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग और अप्राप्त परिस्थितियों

की कामना का नाश स्वतः हो जाता है जिसके होते ही स्वतः नित्य-योग की अभिव्यक्ति होती है जो विकास का मूल है।

यह सभी को विदित है कि शरीर और विश्व एवं व्यक्ति और समाज में अविच्छिन्न सम्बन्ध है अर्थात् इनमें विभाजन नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सभी अपने हैं। सभी को अपना स्वीकार करना सत् का संग है। यदि मानव इस तथ्य का अनादर न करे तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है। कर्त्तव्यपरायणता मानव को वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था आदि की दासता से रहित कर देती है जो विकास का मूल है। जाने हुए का प्रभाव ज्यों ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है त्यों त्यों सभी विकार स्वतः नाश होते जाते हैं। इस दृष्टि से जाने हुए का प्रभाव अर्थात् सत्संग मानव-मात्र का स्वधर्म है। अब यदि कोई कहे कि 'कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है,' यह भी तो सत् अर्थात् निज अनुभव है—तो फिर सभी को अपना स्वीकार करना कहाँ तक युक्ति-युक्त है ? यदि मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि व्यक्तिगत नहीं है तो उसके दुरुपयोग का क्या किसी को अधिकार है ? कदापि नहीं। मिले हुए का सदुपयोग करने के लिये सभी से एकता स्वीकार करना अनिवार्य है और सभी को अपना स्वीकार करने पर मिले हुए की ममता तथा अप्राप्त की कामना स्वतः नाश हो जाती है जिसके होते ही 'सभी अपने हैं' यह स्वतः बोध हो जाता है। इस दृष्टि से सभी को अपना स्वीकार करना अथवा 'अपने में अपना कर के कुछ नहीं है' यह अनुभव समान अर्थ रखता है।

शरीर-विश्व की एकता वैज्ञानिक तथ्य है और शरीर व्यक्ति-गत सम्पत्ति नहीं है, यह निज अनुभव है। इस दृष्टि से अपना कर के अपने में कुछ नहीं है, अथवा सभी अपने हैं। इन दोनों अनुभू-

तियों का आदर करते हुए यह स्पष्ट विदित होता है कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि तथा समस्त सृष्टि जिसका प्रकाश है, वह सभी का है। उसे अपना मानना अथवा उसके नाते सभी को अपना मानना अथवा सब कुछ उसी का मानना वास्तविकता है। वास्तविकता का आदर सत्संग है।

'सृष्टि किसी का प्रकाश है' यह मानव की आस्था है अथवा अनुभव ? कोई भी प्रतीति बिना प्रकाशक के प्रतीत नहीं होती। सृष्टि स्वयं अपने को आप प्रकाशित नहीं करती। अतः यह स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है कि सृष्टि किसी का प्रकाश है। उसमें मानव अविचल आस्था करे अथवा उसकी खोज करे यह उसकी अपनी स्वाधीनता है। खोज उसी की होती है जो 'है' और आस्था भी उसी में की जाती है जो 'है'। 'है' का संग सत् का संग है। असत् की अनुभूति उसी से होती है जो सत् है। असत् का प्रकाशक एवं आश्रय असत् नहीं हो सकता अपितु सत् ही है। सत् कैसा है ? कहाँ है ? क्या है ? इस सम्बन्ध में अनेक मत हो सकते हैं किन्तु उसके होने में किसी का भी विरोध नहीं हो सकता। 'है' एक है, अनेक नहीं। अतः वह कैसा है ? यह विवेचन उतना अपेक्षित नहीं है जितना उसका संग। सत् का बोध, उससे योग एवं उसमें प्रियता सत्संग से ही साध्य है। इस दृष्टि से सत्संग में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है।

असत् का ज्ञान सत् की जिज्ञासा जाग्रत करता है। सत् की जिज्ञासा ज्यों ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों त्यों असत् की ममता तथा कामना मिटती जाती है। सर्वांश में सत् की माँग जाग्रत होते ही निर्ममता तथा निष्कामता स्वतः आ जाती है जिसके आते ही असत् से तादात्म्य नहीं रहता और फिर स्वतः सत् में अगाध प्रियता होती है। प्रियता स्वभाव से ही दूरी, भेद तथा भिन्नता को शेष नहीं रहने देती अर्थात् योग, बोध तथा प्रेम से अभिन्न कर देती है।

माँग मात्र से उसी की प्राप्ति होती है जो नित्य प्राप्त है अर्थात् जिससे देश, काल आदि की दूरी नहीं है । इतना ही नहीं, वास्तविक माँग उसी की होती है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है । स्वतंत्र अस्तित्व उसी का होता है जो अविनाशी है । अविनाशी वही है जिसमें जड़ता की गन्ध भी नहीं है अर्थात् जो चिन्मय है । जड़ता और विनाश रहित जो है, उसी की माँग है, वही अपना है । समस्त सृष्टि उसी का प्रकाश है । उससे दूरी, भेद तथा भिन्नता सम्भव नहीं है । पर यह रहस्य एकमात्र सत्संग से ही स्पष्ट होता है किसी अन्य प्रकार से नहीं । इस दृष्टि से सत्संग में ही जीवन है । सत् की अगाध प्रियता जाग्रत होने पर ही असत् की आसक्ति सर्वांश में नाश होती है । असत् की आसक्ति और सत् की प्रियता असत् और सत् में नहीं हो सकती अपितु उसी में होती है जो जाने हुए का आदर अथवा अनादर तथा मिले हुए का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग एवं सुने हुए में श्रद्धा अथवा अश्रद्धा करता है । उसका यदि नामकरण आवश्यक है तो उसे मानव कह सकते हैं । मानव जाने हुए का आदर, मिले हुए का सदुपयोग एवं सुने हुए में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास करने में स्वाधीन है । जाने हुए के आदर से असंगता, मिले हुए के सदुपयोग से कर्त्तव्यपरायणता और सुने हुए की अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास से आत्मीयता स्वतः अभिव्यक्त होती है । जाने हुए का अनादर, मिले हुए का दुरुपयोग और सुने हुए में अश्रद्धा न करना सत्संग है जो प्रत्येक मानव स्वाधीनतापूर्वक कर सकता है । सत्संग से असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति स्वतः होती है । असंगता, कर्त्तव्यपरायणता एवं आत्मीयता साधन हैं जो सत्संग से ही साध्य हैं ।

सत्संग के बिना साधन का चिन्तन करना प्राप्त सामर्थ्य का

ह्रास है और असत् का आश्रय है। सत्संग से प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग और आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होने पर जो नहीं करना चाहिए उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती और जो करना चाहिये वह स्वतः होने लगता है। इतना ही नहीं, अखण्ड स्मृति और अगाध प्रियता स्वतः जाग्रत होती है। इस दृष्टि से असमर्थता का अन्त करने के लिये एकमात्र सत्संग ही अचूक उपाय है। सामर्थ्य के अभाव का नाम असमर्थता नहीं है अपितु प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग ही वास्तविक असमर्थता है। प्रत्येक मानव जन्मजात साधन-निष्ठ हो सकता है किन्तु अपने को असाधन में आबद्ध रखता है, यही वास्तविक असमर्थता है। जो सम्भव है उससे निराश हो जाना और जो असम्भव है उसकी आशा में आबद्ध होना असत् के संग का ही परिणाम है।

सर्वांश में असत् के आश्रय का त्याग किये बिना सत्संग सम्भव नहीं है। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार मानव सर्वांश में असत् का संग कर नहीं पाता परन्तु आंशिक असत् के संग मात्र से ही मानव असाधन में आबद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से असाधन की उत्पत्ति भूलजनित है, प्राकृतिक नहीं। इसी कारण असाधन की निवृत्ति होती है। जाने हुए का अनादर करना और किये हुए में आसक्त होना भारी भूल है। जाने हुए का आदर करते ही किये हुए की आसक्ति स्वतः नाश हो जाती है और फिर जो करना चाहिये वह होने लगता है। जो स्वतः होता है उसका अभिमान अंकित नहीं होता अर्थात् जब वह होने लगता है जो करना चाहिये, तब निर-भिमानता स्वतः आ जाती है जिसके आते ही सर्वांश में असत् का त्याग अर्थात् सत् का संग हो जाता है जिसके होते ही स्वतः साधन की अभिव्यक्ति होती है जो विकास का मूल है।

असमर्थता की अनुभूति मानव में वेदना जाग्रत करती है जिसके जाग्रत होते ही समर्थ की खोज तथा आस्था उदित होती है। खोज से असंगता एवं आस्था से आत्मीयता प्राप्त होती है। असंगता स्वाधीनता से और आत्मीयता प्रियता से अभिन्न करती है जो वास्तविक जीवन है। इस दृष्टि से असमर्थता का अनुभव करना मानव-मात्र के लिये अत्यन्त आवश्यक है परन्तु वास्तविकता से निराश होना, हार स्वीकार कर लेना सर्वथा त्याज्य है। असमर्थता की पीड़ा में ही सामर्थ्य की माँग निहित है। सामर्थ्य जिसकी देन है वह अपना है। असमर्थता को सहन करते रहना ही सामर्थ्य से विमुख होना है। अतः सामर्थ्य की माँग उत्तरोत्तर बढ़ती रहे तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक असमर्थता का अन्त हो सकता है। माँग मात्र से ही जिसकी प्राप्ति होती है उस से कभी भी निराश नहीं होना चाहिये। पर यह दृढ़ता तभी सम्भव है जब 'सत्सङ्ग को ही सर्वोत्कृष्ट वर्तमान कार्य-क्रम बना लिया जाय।

सत्सङ्ग करने में प्रत्येक मानव सर्वदा स्वाधीन है; कारण, कि अपने ही द्वारा सत्सङ्ग हो सकता है। सत्सङ्ग का वास्तविक अर्थ है—अपने जाने हुए का प्रभाव तथा सुने हुए में अविचल आस्था। जाने हुए का प्रभाव संयोग में वियोग का, जीवन में मृत्यु का और सुख में दुःख का स्पष्ट बोध करा देता है। सुने हुए में अविचल आस्था मानव को श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता प्रदान करती है। जीवन में मृत्यु का दर्शन करते ही मृत्यु का भय शेष नहीं रहता और संयोग में वियोग का अनुभव करने पर नित्ययोग की प्राप्ति होती है एवं सुख में दुःख का दर्शन करने से सुख का प्रलोभन नाश हो जाता है जो विकास का मूल है।

जिस किसी को जो कुछ मिला है वह उसका अपना नहीं है। यह

अनुभव मानव-मात्र का अपना अनुभव है। प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि के उपयोग का अधिकार मिलने पर भी यह विधान नहीं है कि उन्हें अपना माना जाय अपितु अपना मानना भूल ही है। अपना मानने से किसी वस्तु आदि पर अपना स्वत्त्व नहीं हो जाता और अपना न मानने पर भी उनके उपयोग में कोई कठिनाई नहीं होती। इतना ही नहीं, अपना मानने से केवल लोभ, मोह, दीनता, अभिमान आदि विकारों की उत्पत्ति ही होती है और अपना न मानने से स्वतः निर्विकारता की अभिव्यक्ति होती है जो विकास की भूमि है। विकार-युक्त जीवन किसी के लिये भी उपयोगी सिद्ध नहीं होता और निर्विकार जीवन सभी के लिये उपयोगी सिद्ध होता है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध है कि ममता का मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं है। जीवन में जिसका कोई स्थान नहीं है उसको बनाये रखना असत् का संग है जिसका त्याग करना प्रत्येक मानव के लिये वर्तमान में ही अनिवार्य है जो वास्तव में सत्सङ्ग है।

अब यदि कोई यह कहे कि मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य अपनी नहीं है पर उनका अस्तित्त्व तो है? यह नियम है कि जिनका स्वतन्त्र अस्तित्त्व होता है वे अपने को अपने आप प्रकाशित करते हैं पर शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि कोई भी वस्तु अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करतीं। अतः यह सभी को मान्य होगा कि वस्तुओं का प्रकाशक वस्तुओं से अतीत है। जो सभी वस्तुओं से अतीत है वह उत्पत्ति-विनाश रहित है; कारण, कि समस्त सृष्टि स्वयं अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करती। इस दृष्टि से सृष्टि भी वस्तु ही है। यदि इन्द्रिय आदि अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करतीं तो इन्द्रियों के द्वारा जिस जगत् की प्रतीति हो रही है वह भी तो अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करता। इस दृष्टि

से मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य तथा समस्त सृष्टि समान है अथवा यों कहो कि इन दोनों में जातीय एकता है। यह सभी को मान्य होगा कि प्रत्येक उत्पत्ति का आश्रय उत्पत्ति रहित है। वैज्ञानिक आविष्कार, दार्शनिक खोज, साहित्यिक रचनायें एवं कलाकृतियों का अभ्युदय आदि का आश्रय जो है वह सभी का अपना है। उसमें आस्था न करना असत् का संग है और उत्पन्न हुए में ममता करना भी असत् ही का संग है।

व्यक्तिगत विशेषताओं की जो प्रतीति है वह किसी व्यक्ति विशेष की उपज नहीं है अपितु खोज भले ही हो; इतना ही नहीं, खोज करने की सामर्थ्य खोज करने से पूर्व मिलती हैं। जो मिलता है वह किसी की देन है, व्यक्तिगत मिल्कियत नहीं है। मिले हुए के सदुपयोग से भिन्न भिन्न प्रकार की विशेषतायें उत्पन्न होती हैं और उनके दुरुपयोग से अनेक प्रकार की न्यूनतायें उत्पन्न होती हैं। मिले हुए के सदुपयोग तथा दुरुपयोग की स्वाधीनता भी मानव-मात्र को मिली ही है। जिससे मिला है, उसे मानव भले ही न जाने, पर जो मिला है वह किसी दाता की देन है, इतना तो जानता ही है। अन्तर केवल इतना है कि "किसने दिया है" यह नहीं जानता, पर किसी ने दिया है, यह प्रत्यक्ष ही है।

अब यदि कोई कहे कि मानव को जो कुछ मिला है वह जगत् की देन है तो यह मान्यता भी युक्तियुक्त नहीं है; कारण, कि दाता वही हो सकता है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्त्व हो। जगत् की प्रतीति तो होती है पर उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्त्व प्रत्यक्ष नहीं होता। जगत् की ओर आकर्षण भी तो भूल-जनित ही है। जब मानव मिले हुए को अपना मान लेता है तभी कामनायें उत्पन्न होती हैं और उनकी पूर्ति के लिये ही जगत् की ओर आकर्षण तथा

प्रवृत्ति होती है। किन्तु सभी कामनायें पूरी नहीं होतीं, यह वैधानिक तथ्य है। कामनाओं के अनुरूप प्रवृत्ति भले ही हो, पर प्रवृत्ति के अन्त में प्राप्ति कुछ नहीं होती अपितु प्राप्त सामर्थ्य आदि का ह्रास ही होता है अर्थात् प्रवृत्ति के परिणाम में अभाव ही शेष रहता है। इससे स्पष्ट ही है कि जगत् में देने की सामर्थ्य नहीं है। अतः जगत् दाता नहीं है, और न वह वास्तविक माँग की पूर्ति में समर्थ ही है। इतना अवश्य है कि व्यक्तिगत वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता और जगत् इनमें परस्पर एकता है। जब मानव प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य की ममता तथा अप्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि की कामनाओं का त्याग कर देता है और मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करता है एवं दाता में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार कर लेता है, तब दुःख की निवृत्ति, परम-शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम की अभिव्यक्ति स्वतः होती है जो मानव की वास्तविक माँग है।

मिले हुए को अपना मानना, उसका दुरुपयोग करना एवं दाता को अपना न मानना असत् का संग है; कारण, कि जो वास्तविकता है उसको न अपनाने का अर्थ है जो 'नहीं है' उसे अपनाना। 'है' को न अपना कर 'नहीं' को अपनाना असत् का संग है और वास्तविकता को अपनाना सत् का संग है। सत् के संग में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है।

कामनापूर्ति को वास्तविक माँग मान कर किया हुआ प्रयास मानव को वास्तविकता से विमुख ही करता है। कामनापूर्ति व अपूर्ति दो अवस्थाएँ हैं, जीवन नहीं। कामनाओं की उत्पत्ति भूलजनित है, वास्तविक नहीं। इस दृष्टि से कामनापूर्ति को लक्ष्य मान लेना असत् का संग है जिसका त्याग अनिवार्य है। कामनापूर्ति

मानव-जीवन का लक्ष्य नहीं है, यह अनुभव करते ही निष्कामता स्वतः आती है । जिसके आते ही अनावश्यक कामनाओं की निवृत्ति स्वतः होती है, कामनापूर्ति के सुख में जीवन-बुद्धि नहीं रहती और नवीन कामनाओं का जन्म नहीं होता जो विकास की भूमि है । अतः कामनापूर्ति को मानव-जीवन का लक्ष्य न मानना सत्सङ्ग है। सत्सङ्ग के द्वारा निर्मम तथा निष्काम होने पर कर्त्तव्यपरायणता एवं असंगता तथा आत्मीयता स्वतः जाग्रत होती है । इस दृष्टि से समस्त साधनों की अभिव्यक्ति सत्सङ्ग में ही निहित है । सत्सङ्ग के विना वलपूर्वक किये हुए साधन से जीवन और साधन में एकता नहीं होती । आंशिक असाधन रहता ही है । इतना ही नहीं, साधन करते हैं और असाधन होता रहता है । साधन की अभिव्यक्ति होने पर साधन और जीवन में एकता होती है और फिर साधन करना नहीं पड़ता और असाधन की उत्पत्ति नहीं होती । अतः सत्सङ्ग ही समस्त साधनों की भूमि है ।

असत् का त्याग, सत् का संग, असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति युगपद होते हैं । साधन और असाधन के द्वन्द्व का अन्त सत्सङ्ग से ही होता है । साधन अभिव्यक्त होता है, उत्पन्न नहीं होता । इस कारण साधन अविनाशी है । असाधन असत् के संग से उत्पन्न होता है । वह कोई प्राकृतिक तथ्य नहीं है । असत् का संग भूलजनित है । भूलरहित होते ही स्वतः सत् का संग होता है और फिर सदा के लिये असाधन का नाश हो जाता है जिसके होते ही 'साधन जीवन है,' यह प्रत्यक्ष हो जाता है ।

कर्त्तव्यपरायणता, असंगता एवं आत्मीयता साधन का वास्तविक क्षेत्र है और यही मानव जीवन है । मिले हुए का सदुपयोग ही कर्त्तव्यपरायणता है । पर वह तभी सम्भव है जव सत्सङ्ग द्वारा यह

स्पष्ट हो जाय कि मिला हुआ अपना नहीं है, अपने लिये नहीं है। कर्त्तव्यपरायणता से सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः होता है और असंगता में ही अपना कल्याण निहित है एवं आत्मीयता से जाग्रत अगाध प्रियता ही में नित-नव-रस है जो मानव मात्र को स्वभाव से ही प्रिय है; कारण, कि रस क्षति, पूर्ति एवं निवृत्ति से रहित है। इस कारण अनन्त है। रस की माँग सभी को है। रस से कभी किसी को अरुचि नहीं होती और न तृप्ति ही होती है। इस कारण रस की उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती रहती है। रस की माँग ही अन्तिम माँग है।

कर्त्तव्यपरायणता स्वभाव-सिद्ध है, श्रम-साध्य नहीं है; कारण, कि अपने लिये कुछ भी नहीं करना है और वही करना है जो कर सकते हैं जिससे किसी का अहित नहीं है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता सहज, स्वाभाविक प्रवृत्ति है जो मानव को असंगता का अधिकारी बना देती है। स्वाभाविक प्रवृत्ति मानव को सहज निवृत्ति से अभिन्न कर देती है। कार्य के अन्त में स्वतः विश्राम प्राप्त होता है परन्तु जब मानव वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म को सर्वोत्कृष्ट कार्य नहीं मानता और मिले हुए का सदुपयोग नहीं करता तब सर्वांश में कर्त्तव्यपरायणता सिद्ध नहीं होती। कार्य के अन्त में भी कर्त्तव्य का भार बना ही रहता है। प्रत्येक कार्य का आरम्भ तथा अन्त होता है। कर्त्तव्य-निष्ठ होने पर कर्त्ता कार्य के आदि और अन्त में चिरशान्ति पाता है जो समस्त साधनों की भूमि है। कर्त्तव्यपालन के लिये आवश्यक सामर्थ्य, असंगता के लिये विचार का उदय एवं प्रीति की जाग्रति के लिये अखण्ड-स्मृति चिरशान्ति में ही निहित है। इस दृष्टि से शान्ति सुरक्षित रखना अनिवार्य है जो वास्तव में मूक-सत्सङ्ग है।

अपना कुछ नहीं है, अपने को कुछ नहीं चाहिये, अपने लिये

कुछ नहीं करना है, यह सत्सङ्ग है। अहंकृति रहित होते ही चिर-विश्राम की अभिव्यक्ति होती है पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव मिले हुये के सदुपयोग में ही अपना अधिकार मानता है। सदुपयोग के फल की कामना नहीं रखता और न सदुपयोग करने के सुख का ही भोग करता है अपितु दाता की प्रसन्नता, जगत् के अधिकार की रक्षा एवं करने के राग की निवृत्ति के लिये ही मिले हुए का सदुपयोग कर निश्चिन्त हो जाता है। यही वास्तविक कर्त्तव्यपरायणता है। किये हुए का प्रभाव कर्त्ता में करने की आसक्ति उत्पन्न करता है। कर्त्तव्य विद्यमान राग की निवृत्ति के लिये है। करने से करने के राग को पोषित करना कर्त्तव्य नहीं है पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब इस सत्य को अपना लिया जाय कि अपने लिये कुछ भी नहीं करना है। 'अपने लिये कुछ करना है', यह असत् का संग है। कर्त्तव्य जगत् की सेवा है। सेवा से मान और भोग प्राप्त करने का प्रयास कर्त्तव्य के रूप में अकर्तव्य ही है जो सर्वथा त्याज्य है। मान और भोग का प्रलोभन असत् के संग से ही उत्पन्न होता है जो विनाश का मूल है। अहंकृति रहित हुए बिना कर्त्तव्यपरायणता सिद्ध नहीं होती। अहंकृति का अन्त तभी सम्भव है जब इस वास्तविकता को अपना लिया जाय कि वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य से अतीत नित्य-प्राप्त में अविचल आस्था तथा उसकी खोज अपने लिये है और मिले हुए का सदुपयोग अपने लिए नहीं है।

यद्यपि कर्त्तव्यकर्म के अन्त में विश्राम स्वाभाविक है परन्तु करने का राग तथा उसका अभिमान एवं किये हुए की फलासक्ति श्रमरहित नहीं होने देती। श्रम-रहित हुए बिना न तो आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति ही होती है और न अखण्ड स्मृति तथा असंगता ही प्राप्त होती है। इस दृष्टि से श्रम रहित होना प्रत्येक मानव के

लिये अनिवार्य है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग अनिवार्य है। पर जो नहीं करना चाहिये उसको करना और जिसे नहीं कर सकते उसका चिंतन करना भूल है। इस भूल का अन्त किये बिना परिस्थिति का सदुपयोग सम्भव नहीं है।परिस्थिति का सदुपयोग किये बिना सभी परिस्थितियों से अतीत, वास्तविक जीवन से एकता नहीं होती। अतः प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक स्वागत करते हुए उसका सदुपयोग करना है।

सत्संग स्वधर्म है, शरीर धर्म नहीं। इस कारण उसका सम्पादन स्व के द्वारा ही सम्भव है। उसके लिये किसी 'पर' की अपेक्षा नहीं है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि पर स्वयं सत्संग का प्रभाव होता है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा सत्संग नहीं होता। अपने ही द्वारा सत्संग करना है; कारण, कि अपने ही में सत्संग की माँग है। शरीर के सम्बन्ध से तो ममता, कामना आदि विकारों की उत्पत्ति होती है। अतः यदि अपने को सत् का संग करना है तो वह तभी सम्भव होगा जब अपने में से ममता, कामना आदि का त्याग कर दिया जाय। जिसकी ममता का त्याग करना है उसकी वास्तविकता का परिचय भले ही अपेक्षित हो किन्तु निर्मम होने के लिये उसके सहयोग की अपेक्षा नहीं है। जिससे जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध नहीं है, उसका वास्तविक परिचय अर्थात् यथार्थ ज्ञान तभी होगा जब उससे असंगता प्राप्त हो जाय जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। सत् से देश-काल की दूरी नहीं है। जिससे देश-काल की दूरी नहीं है वह स्वभाव से ही नित्य-प्राप्त है। उसका संग ही सत् का संग है।

नित्यप्राप्त का संग किसी श्रमसाध्य प्रवृत्ति से सम्भव नहीं है अपितु उसका संग तभी होगा जब श्रमरहित हो जायँ। श्रमरहित होने के लिये निष्कामता और निष्कामता के लिये निर्ममता अनि-

वार्य है। निर्मम होने के लिये किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है। अपने ही द्वारा अपने में से मानव ममता का त्याग कर सकता है। जिसे हम अपना मानते हैं क्या उस पर हमारा स्वतन्त्र अधिकार है? कदापि नहीं। तो फिर निर्मम होने में आपत्ति ही क्या है? कुछ नहीं। निर्मम होते ही 'पर' से 'स्व' की ओर गति स्वतः होती है जो नित्यप्राप्त से नित्ययोग कराने में समर्थ है। नित्ययोग में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है. इस दृष्टि से असत् का त्याग, सत् का संग एवं नित्ययोग युगपद होते हैं। असत् का ज्ञान ही असत् के त्याग में हेतु है। यद्यपि असत् का ज्ञान मानव-मात्र को स्वतः प्राप्त है, परन्तु मिले हुए में अहम् तथा मम् बुद्धि स्वीकार करने से असत् से तादात्म्य हो जाता है और फिर आंशिक सत्य की जिज्ञासा मात्र ही शेष रहती है। असत् के संग से उत्पन्न हुए दोषों से जब मानव पीड़ित होता है तव सत् की जिज्ञासा सबल तथा स्थायी होती है जो जाने हुए असत् के त्याग की प्रेरणा देती है। असत् का संग तभी तक जीवित है जब तक मानव असत् के संग-जनित परिणाम को सहन करता है जो वास्तव में भूल है। भूल प्राकृतिक दोष नहीं है अपितु असत् के संग से उत्पन्न होती है। उत्पत्ति का विनाश प्राकृतिक तथ्य है। इसी कारण भूल सदैव नहीं रह सकती। किसी का नाश ही उसकी उत्पत्ति सिद्ध करता है। अतः भूल का नाश होता है, इस कारण उसकी उत्पत्ति होती है यह मानना युक्तियुक्त ही है।

अब यदि कोई यह कहे कि असत् के संग से भूल उत्पन्न हुई अथवा भूल से असत् का संग होता है? इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट ही है कि मिली हुई स्वाधीनता के दुरुपयोग से ही असत् का संग होता है जिसे मूल-भूल भी कह सकते हैं। पर यह प्राकृतिक नहीं

है। प्राकृतिक तथ्य में परिवर्त्तन भले ही हो किन्तु उसका अत्यन्त अभाव नहीं होता। भूल का अत्यन्त अभाव होता है। इस कारण वह प्राकृतिक नहीं है अपितु असत् के संग से ही उत्पन्न होती है। यह सभी को विदित ही है कि सर्वांश में असत् का संग सम्भव ही नहीं है। अतः असत् का संग करने पर भी सत् की माँग शेष ही रहती है। असत् के संग से उत्पन्न हुई कामनायें सत् की माँग का नाश नहीं कर सकतीं किन्तु माँग की पूर्ति होने पर कामनायें सदा के लिये मिट जाती हैं। और फिर लेशमात्र भी असत् का संग नहीं रहता। जिसके मिटते ही भोग, मोह और आसक्ति का नाश तथा योग, बोध, प्रेम की अभिव्यक्ति स्वतः होती है जो वास्तविक जीवन है।

श्रम, संयम, सदाचार शरीर धर्म हैं। उनके अभिमान का त्याग सत्संग है जो एकमात्र विश्राम से ही साध्य है। विश्राम कोई अभ्यास तथा अनुष्ठान नहीं है। वह किसी के सहयोग से सिद्ध नहीं होता अपितु अपने ही द्वारा अपने को साध्य है। विश्राम काल में आगे पीछे का व्यर्थचिन्तन उत्पन्न होता है परन्तु उसका मूल किये हुये का प्रभाव अथवा जो करना चाहते हैं उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। व्यर्थचिन्तन का नाश किसी चिन्तन से नहीं होता अपितु कुछ काल के लिये दब जाता है। इसी कारण मानव सार्थक चिन्तन करता रहता है और व्यर्थचिन्तन होता रहता है। करने और होने का द्वन्द्व तभी नाश होगा जब व्यर्थचिन्तन की उत्पत्ति न हो। व्यर्थचिन्तन के नाश के लिये एकमात्र मूक सत्संग ही अचूक उपाय है अर्थात् श्रमरहित होना है।

विश्राम काल में अपने आप होने वाले चिन्तन का अनुभव अपने को है जो वास्तव में भुक्त-अभुक्त का प्रभाव है और कुछ

नहीं। व्यर्थचिन्तन का अनुभव प्रवृत्ति काल में नहीं होता। अपितु विश्राम काल में ही होता है। कोई भी प्रवृत्ति अखण्ड नहीं हो सकती। इस कारण प्रवृत्ति के अन्त में व्यर्थचिन्तन होने लगता है। इतना ही नहीं, प्रवृत्ति से व्यर्थचिन्तन दबता है मिटता नहीं। व्यर्थचिन्तन का अंत एकमात्र सत्संग से ही होता है। प्रवृत्ति का वह भाग जिसके विना करे किसी भी प्रकार नहीं रह सकते, उसका करना अनिवार्य है। किन्तु प्रवृत्ति में जीवन-बुद्धि रखना भूल है। आवश्यक प्रवृत्ति कार्यान्वित होकर नाश हो जाय, पर नवीन प्रवृत्ति को जन्म न दे तो प्रवृत्ति के अंत में स्वतः आने वाली निवृत्ति सत्संग में हेतु है। यह सभी को मान्य है कि सत् अप्राप्त नहीं है। प्राप्त का संग निवृत्ति से ही सम्भव है; कारण, कि प्रवृत्ति काल में मिले हुये से संग अर्थात् तादात्म्य हो जाता है, बस यही असत् का संग है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति का राग असत् के संग को पोषित करता है। जब तक मानव सहज निवृत्ति से होने वाले सत्संग को नहीं अपनाता तब तक प्रवृत्ति का राग नाश नहीं होता जो असत् के संग को पोषित करता है। प्रवृत्ति, प्रवृत्ति का राग मिटाने में भले ही उपयोगी सिद्ध हो किंतु प्रवृत्ति का राग तो एकमात्र असत् के संग का ही पोषक है।

बलपूर्वक प्रवृत्ति का निरोध निवृत्ति नहीं है अपितु प्रवृत्ति ही है। आवश्यक प्रवृत्ति के अंत में अपने आप आने वाली निवृत्ति ही वास्तविक निवृत्ति है और उसी निवृत्ति से सत् का संग होता है। निवृत्ति काल में देहाभिमान अपने आप गल जाता है। किंतु प्रवृत्ति की रुचि पुनः देहाभिमान को उत्पन्न कर देती है। इस कारण प्रवृत्ति के राग का अत्यन्त अभाव अनिवार्य है। जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है।

अपने आप होने वाले चिंतन से भयभीत होना अथवा उससे सुख लेना, व्यर्थचिंतन को जीवित रखना है। इतना ही नहीं किसी अन्य चिंतन से उसको दबा देना भी उसके नाश में हेतु नहीं है। जो हो रहा है उसका अनुभव जिसको है उसे उससे असहयोग करना है। पर जब तक करने का राग है तब तक किये हुये का प्रभाव चिन्तन के रूप में उत्पन्न होता ही रहता है। विश्राम अपने लिये उपयोगी हैं, उसमें जीवन है; यही महामंत्र है, करने के राग की निवृत्ति में। यह दृष्टि से मूक-सत्संग ही विकास की भूमि है।

जिस श्रम का अन्त विश्राम में हो, वही श्रम उपयोगी है। यह सभी को मान्य है कि श्रम से प्राप्त सामर्थ्य का व्यय होता है और विश्रामकाल में ही आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से विश्राम ही श्रम के आदि और अन्त में है। जो आदि और अन्त में हैं उसी में जीवन है। वही अविनाशी है। उससे अभिन्न होना ही सत् का संग है।

मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के सदुपयोग में ही श्रम का महत्व है और उसी से सुन्दर समाज का निर्माण होता है अर्थात् पारस्परिक एकता सुरक्षित रहती है। यदि अपने लिये विश्राम ही है तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक श्रम द्वारा दूसरों के अधिकारों की यथाशक्ति रक्षा की जा सकती है। जिसे अपने लिये कुछ करना है वह दूसरों के अधिकार की रक्षा ईमानदारी से कर ही नहीं सकता। दूसरों के अधिकार उसी के द्वारा सुरक्षित रहते हैं जिसने अपने लिये विश्राम को ही अपनाया है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग में ही कर्त्तव्यपरायणता निहित है।

विश्राम अकर्मण्यता तथा अकर्त्तव्य नहीं है। अपितु योग तथा

कर्त्तव्यपरायणता की भूमि है । जिसे अपने लिये कुछ नहीं करना है उसे वास्तव में किसी से कुछ नहीं चाहिये, अतः निष्कामता भी विश्राम से ही सुरक्षित रहती है । जिसे कुछ भी चाहिये उसमें प्रेम की अभिव्यक्ति भी नहीं होती और न वह स्वाधीनता का साम्राज्य ही पाता है अपितु आसक्ति तथा पराधीनता में ही आबद्ध रहता है। इस दृष्टि से विश्राम में ही वास्तविक जीवन है। अपने आप होने वाले व्यर्थचिन्तन का अनुभव कर उसके कारण की खोज करना अत्यन्त आवश्यक है। उससे तादात्म्य कर लेना सर्वथा त्याज्य है।

यह स्पष्ट ही है कि चिन्तन के रूप में जो प्रतीत हो रहा है उसका वर्त्तमान में अस्तित्व नहीं है; कारण, कि चिन्तन आगे और पीछे से सम्बन्ध रखता है। जिसका अस्तित्व ही नहीं है उससे भय-भीत होना अथवा उससे सुख लेना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भूतकाल की घटनायें जो चिन्तन के रूप में प्रतीत होती हैं उनके अर्थ को अपनाना है और घटनाओं के अस्तित्व को जो वर्त्तमान में नहीं हैं अस्वीकार करना है। की हुई बुराई के न दुहराने का निर्णय करते ही उसका चिन्तन निर्जीव हो जायेगा, और की हुई भलाई के अभिमान तथा फलासक्ति का त्याग करने से भलाई का चिन्तन भी मिट जायेगा अर्थात् बुराई उत्पन्न न होगी और भलाई का अभिमान गल जायेगा और फिर बड़ी ही सुगमता-पूर्वक होने वाले चिन्तन से असंगता हो जायेगी । जिसके होते ही व्यर्थचिन्तन स्वतः नाश हो जायेगा और फिर चिर-विश्राम से अभिन्नता हो जायेगी।

प्रत्येक कर्त्तव्य कर्म का सम्बन्ध वर्त्तमान से है। अतः भविष्य में जो कुछ करना है उसका चिन्तन तभी तक होता है जब तक मानव कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं होता और विश्राम में जीवन है इसमें

आस्था नहीं होती, चिन्तन से उसकी प्राप्ति नहीं होती जो कर्म सापेक्ष है अर्थात् उत्पन्न हुई वस्तुओं की प्राप्ति कर्म सापेक्ष है, चिन्तन साध्य नहीं। इस दृष्टि से वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि का चिन्तन व्यर्थचिन्तन ही है। अब यदि कोई यह कहे कि आत्मा परमात्मा का तो चिन्तन करना होगा। अनात्मा का आश्रय लिये बिना क्या कोई भी मानव किसी प्रकार का चिन्तन कर सकता है ? कदापि नहीं। अनात्मा से असंग होने पर आत्म-साक्षात्कार तथा आत्मरति होती है। चिन्तन से नहीं। असंगता अनुभव सिद्ध है चिन्तन-साध्य नहीं। अतः आत्मचिन्तन अनात्मा का तादात्म्य ही है और कुछ नहीं। परमात्मा से देश-काल की दूरी नहीं है। जो सभी का है, सदैव है, सर्वत्र है और सर्व है, उसकी आत्मीयता ही उससे अभिन्न कर सकती है; कारण, कि आत्मीयता अगाध-प्रियता की जननी है। प्रियता दूरी, भेद भिन्नता को रहने नहीं देती अर्थात् मानव को योग, बोध, प्रेम से अभिन्न करती है।

आत्मीयता आस्था, श्रद्धा, विश्वास से ही साध्य है किसी अन्य प्रकार से नहीं। आस्था, श्रद्धा, विश्वास की पुनरावृत्ति नहीं करनी पड़ती अपितु अपने ही द्वारा स्वीकृत होती है।

के आदि और अन्त में सत्संग का सुअवसर है। सत्संग के बिना कर्त्तव्य की, निज स्वरूप की एवं प्रभु की विस्मृति नाश नहीं होती। कर्त्तव्य की विस्मृति में ही अकर्त्तव्य की उत्पत्ति और निज स्वरूप की विस्मृति में ही देहाभिमान की उत्पत्ति और प्रभु की विस्मृति में ही आसक्तियों की उत्पत्ति होती है जो विनाश का मूल है। स्मृति अपने में अपने आप जाग्रत होती है उसके लिये किसी कारण की अपेक्षा नहीं है। स्मृति में ही प्रीति, बोध तथा प्राप्ति निहित है। जिस प्रकार काष्ठ में अभिव्यक्त हुई अग्नि काष्ठ को भस्मीभूत कर देती है उसी प्रकार अपने में ही जाग्रत स्मृति समस्त दोषों को भस्मीभूत कर देती है।

अखण्ड स्मृति किसी श्रमसाध्य उपाय से साध्य नहीं है अपितु विश्राम अर्थात् सत्संग से ही साध्य है। अविनाशी का संग किसी उत्पन्न हुई वस्तु के आश्रय से नहीं होता--ममता, कामना एवं तादात्म्य के नाश से ही होता है जो अपने ही द्वारा अपने से साध्य है।

जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त है उसका आश्रय अनुत्पन्न हुआ अविनाशी तत्व ही है। अविनाशी की माँग मानव-मात्र में स्वभावसिद्ध है और विनाशी की ममता, कामना भूलजनित है। भूल का नाश होने से ममता कामना आदि का नाश हो जाता है। फिर स्वाभाविक माँग की पूर्त्ति स्वतः हो जाती है उसके लिये कुछ करना नहीं पड़ता।

माँग की जाग्रति से ममता तथा कामना के नाश से माँग की पूर्त्ति होती है। इस दृष्टि से वास्तविक माँग की पूर्त्ति और ममता, कामना आदि की निवृत्ति अनिवार्य है। इस ध्रुव सत्य में अविचल आस्था करने से सत्संग बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो सकता है।

क्रियाजनित सुख का प्रलोभन देहाभिमान अर्थात् असत् के

संग को पोषित करता है। असत् का संग रहते हुए किसी भी मानव को वास्तविक जीवन की उपलब्धि नहीं हो सकती। इस दृष्टि से असत् का त्याग तथा सत् का संग अनिवार्य है। यह नियम है कि जो मानव-मात्र के लिये अनिवार्य है उसकी प्राप्ति में पराधीनता तथा असमर्थता नहीं है। यह वैधानिक तथ्य है। अतः सत्संग मानव-मात्र के लिये सुलभ है। उससे निराश होना भूल है। उसके लिये नित-नव-उत्साह बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है। उत्साह मानव को सजगता तथा तत्परता प्रदान करता है। उत्साहहीन जीवन निराशा की ओर ले जाता है जो अवनति का मूल है। जिसकी प्राप्ति में निराशा की गंध भी नहीं है उसके लिये उत्साह सुरक्षित रखना सहज तथा स्वाभाविक है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव सत्संग को अपना जन्मसिद्ध अधिकार स्वीकार करता है; कारण, कि सत्संग के बिना काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्त्ति एवं प्रेम की जाग्रति सम्भव नहीं है। काम की निवृत्ति में ही नित्य-योग एवं जिज्ञासा की पूर्त्ति में ही तत्त्व साक्षात्कार तथा प्रेम की जाग्रति में ही अनन्त रस की अभिव्यक्ति निहित है जो मानव-मात्र की अन्तिम माँग है। क्रियाजनित सुख-भोग में पराधीनता, असमर्थता एवं अभाव निहित है जो किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। इतना ही नहीं समस्त कर्म, मान और भोग में हेतु हैं। मान और भोग की रुचि देहातीत जीवन से अभिन्न नहीं होने देती। देहयुक्त जीवन में स्थायित्व नहीं है, यह प्रत्येक मानव का निज अनुभव है। स्थायित्व रहित जीवन वास्तविक जीवन की माँग है, और कुछ नहीं। अर्थात् मानव का अस्तित्व माँग है जिसकी पूर्त्ति अनिवार्य है। असत् के संग से उत्पन्न हुई कामनायें मानव को वास्तविक माँग से विमुख करती हैं और सत्संग से माँग की पूर्त्ति होतो है।

कर्म का सम्बन्ध 'पर' के प्रति है, स्व के प्रति नहीं। अपने से भिन्न जो कुछ है, वही 'पर' है। जिसे 'यह' करके सम्बोधन करते हैं, वह अपने से भिन्न है। इस कारण शरीर तथा समस्त सृष्टि 'पर' के अर्थ में ही आती है। शरीर और सृष्टि के प्रति ही कर्म की अपेक्षा है वह कर्म जो शरीर तथा सृष्टि के लिये अहितकर है उसका करना असत् का संग है। अहितकर कर्म का त्याग सत् का संग है अर्थात् जो नहीं करना चाहिये उसका करना असत् का संग और उसका न करना सत् का संग है। कर्मविज्ञान की दृष्टि से जो नहीं करना चाहिये, उसके न करने में ही जो करना चाहिये वह स्वतः होने लगता है। इस दृष्टि से जो करना चाहिये वह स्वतः होगा पर जो नहीं करना चाहिये उसका त्याग अनिवार्य है। सत्-संग त्याग से ही साध्य है। त्याग सहज तथा स्वाभाविक तथ्य है। जैसे कुछ भी करने से पूर्व न करना स्वतः सिद्ध है और करने के अन्त में भी न करना ही है। जो आदि और अन्त में है उसे अपना लेना सत्संग है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि अकर्मण्यता तथा आलस्य का मानव जीवन में कोई स्थान है। अकर्मण्यता तथा आलस्य तो सर्वथा त्याज्य है। स्व के प्रति करने की बात है ही नहीं। परहित में ही कर्म का स्थान है। प्रत्येक प्रवृत्ति सर्व-हित-कारी सद्भावना से ही आरम्भ हो। प्रवृत्ति के द्वारा अपने को कुछ भी नहीं पाना है। यह अनुभव हो जाने पर ही कर्म-विज्ञान की पूर्णता होती है। कर्म-विज्ञान है जो मानव को क्रियाजनित सुख-लोलुपता से रहित करने में समर्थ है। क्रियाजनित सुख-लोलुपता का अन्त होते ही योग-विज्ञान का आरम्भ होता है जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। योग की अभिव्यक्ति के लिये किसी प्रकार की प्रवृत्ति अपेक्षित नहीं है अपितु, मूक-सत्संग ही अपेक्षित है।

मूक-सत्संग का अर्थ कोई श्रमयुक्त मानसिक साधन नहीं है अपितु, अहंकृति रहित विश्राम है। कुछ न करने का संकल्प भी श्रम है। कर्त्तव्य के अन्त में अपने आप आने वाला विश्राम मूक-सत्संग है। विश्रामकाल में ही सार्थक तथा निरर्थक चिन्तन की अभिव्यक्ति तथा उत्पत्ति होती है। सार्थक चिन्तन का अर्थ है अखण्ड स्मृति और निरर्थक चिन्तन का अर्थ है, भुक्त-अभुक्त का प्रभाव। भुक्त-अभुक्त के प्रभाव की प्रतीति को ही व्यर्थचिन्तन, मानसिक चंचलता आदि कहते हैं जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है। प्राकृतिक नियमानुसार भुक्त-अभुक्त के प्रभाव की प्रतीति यद्यपि मानव के विकास में हेतु है परन्तु उसके वास्तविक रहस्य को न जानने के कारण अपने आप होने वाले चिन्तन को किसी अन्य चिन्तन के द्वारा मिटाने का प्रयास करते हैं और यह भूल जाते हैं कि किये हुये का तथा करने की रुचि का परिणाम ही तो व्यर्थ-चिन्तन है। जिस कारण से व्यर्थचिन्तन उत्पन्न हुआ है उसका नाश न करना और उसी के द्वारा व्यर्थचिन्तन मिटाने का प्रयास करना व्यर्थचिन्तन को ही पोषित करना है।

व्यर्थचिन्तन की उत्पत्ति मानव को यह बोध कराती है कि भूतकाल में क्या कर चुके हो और भविष्य में क्या करना चाहते हो। जो कर चुके हो उसका परिणाम क्या है? जो करना चाहते हो उसका परिणाम क्या होगा ? इस पर विचार करने का सुअवसर व्यर्थचिन्तन के होने से ही मिलता है। व्यर्थचिन्तन का सदुपयोग न करना और उसको बलपूर्वक किसी क्रियाविशेष से मिटाने का प्रयास करना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। ज्यों-ज्यों व्यर्थचिन्तन मिटाने के लिये किसी क्रियाविशेष को अपनाते हैं त्यों-त्यों व्यर्थचिन्तन सबल तथा स्थायी होता जाता है। किये हुये के

परिणाम को किसी कर्म के द्वारा मिटाने का प्रयास सर्वथा व्यर्थ ही सिद्ध होता है अर्थात् व्यर्थचिन्तन नाश नहीं होता। व्यर्थ-चिन्तन का अन्त करने के लिये क्रियाजनित सुख-लोलुपता का सर्वांश में त्याग करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब मूक-सत्संग के द्वारा शान्ति की अभिव्यक्ति, विचार का उदय एवं अखण्ड स्मृति जाग्रत हो जाय। शान्ति में योग, विचार में बोध एवं अखण्ड-स्मृति में अगाध रस निहित है। क्रियाजनित सुख-लोलुपता की दासता का नाश रस की अभिव्यक्ति होने पर ही होता है। सुख-लोलुपता मानव को सदैव पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में ही आबद्ध करती है। किन्तु रस की अभिव्यक्ति में पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि की गंध भी नहीं है। इतना ही नही, पराधीनता से ही क्रियाजनित सुख उत्पन्न होता है। जब मानव को पराधीनता असह्य हो जाती है तब वह बड़ी ही सुगमता एवं स्वाधीनतापूर्वक सत्संग करने में तत्पर होता है। यह कैसा आश्चर्य है ? जिसकी उपलब्धि स्वाधीनता-पूर्वक होती है उससे विमुख होना और जिसमें पराधीनता के अति-रिक्त और कुछ नहीं है उसके लिये प्रयास करना क्या अपने ही द्वारा अपने विनाश का आह्वान नहीं है ?

सत्संग की भूख जाग्रत होते ही सत्संग अत्यन्त सुलभ हो जाता है। उससे निराश होना भूल है। जो मौजूद है उसका संग न करना और जो नहीं है उसके पीछे दौड़ने का प्रयास करना क्या प्राप्त सामर्थ्य का दुर्व्यय नहीं है ? अर्थात् अवश्य है।

यह अनुभव सिद्ध है कि प्रतीति की ओर प्रवृत्ति भले ही हो किन्तु परिणाम में प्राप्ति कुछ नहीं है। प्रवृत्ति के अन्त में अपने आप आने वाली निवृत्ति ही मूक-सत्संग है। उस निवृत्ति को सुरक्षित रखना अनिवार्य है। यह तभी सम्भव होगा "जब अपने

;छ भी करना नहीं है अपितु सेवा, त्याग, प्रेम में ही जीवन इसमें किसी प्रकार का विकल्प न हो।

ावृत्ति का आकर्षण पराधीनता को जन्म देता है। प्रवृत्तियों का । देहाभिमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। देहाभिमान की ा भूलजनित है जिसकी निवृत्ति मूक-सत्संग से ही साध्य है।

मूक-सत्संग स्वाभाविक है पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव करने के राग से रहित हो जाय। जो हो रहा है उससे असहयोग करले तथा जो है उसमें अविचल आस्था कर निश्चिन्त हो जाय। निश्चिन्तता आते ही 'है' से योग, उसका बोध एवं उसके प्रेम की प्राप्ति स्वतः होती है। मूक-सत्संग के बिना योग, बोध तथा प्रेम की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग मानव-मात्र के लिये अनिवार्य है।

प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में मूक-सत्संग स्वतः होता है, उसको सुरक्षित रखना अत्यन्त आवश्यक है। कर्त्ता, कर्म और फल इन तीनों में जातीय एकता है। क्रियाजनित राग की निवृत्ति होने पर कर्त्ता जिज्ञासु तथा भक्त हो जाता है; कारण, कि वास्तविकता की खोज एवं अपने निर्माता में आस्था उदित होती है। वास्तविकता की खोज स्वतः कर्मफल के राग से रहित कर देती है; कारण, कि किसी भी कर्म का फल अविनाशी जीवन नहीं है जो मानव की स्वाभाविक माँग है। जिज्ञासा की तीव्र जाग्रति मानव को पराधीनताजनित सुख-लोलुपता से रहित कर देती है। इस दृष्टि से जिज्ञासा की जाग्रति विकास की जननी है। कर्म-विज्ञान मानव को क्रियाजनित सुख-लोलुपता से रहित होने की प्रेरणा देता है और नित्य-योग से अभिन्न करता है किन्तु जब तक मानव करने के राग से रहित नहीं होता तब तक न तो कर्त्तव्यनिष्ठ ही हो पाता है और न व्यर्थचिन्तन से ही छुटकारा पाता है।

व्यर्थचिन्तन की उत्पत्ति न चाहते हुये स्वतः होती है। यह नियम है कि प्रत्येक उत्पत्ति का विनाश अपने आप होता है। इस कारण व्यर्थचिन्तन का सदुपयोग करना है, उससे भयभीत नहीं होना है। अपने सम्बन्ध में विचार करने का अवसर व्यर्थचिन्तन के होने से ही मिलता है। व्यर्थचिन्तन हो रहा है, किया नहीं जा रहा। न करने की स्थिति में ही उसकी स्पष्ट प्रतीति होती है। उससे तद्‌रूप हो जाना भूल है। व्यर्थचिन्तन से वर्त्तमान वस्तुस्थिति का परिचय होता है। जिसके होने से मानव अपनी माँग तथा दायित्व को भली भाँति अनुभव कर सकता है।

यह नियम है कि दायित्व पूरा करने पर माँग की पूर्ति होती है और माँग का स्पष्ट दर्शन होने पर दायित्व का ज्ञान स्वतः होता है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग मानव को साधननिष्ठ बनाकर लक्ष्य की प्राप्ति कराने में समर्थ है।

खोज तथा आस्था दोनों ही प्रकार से मानव सत्संग कर सकता है। आस्था सदैव सुने हुए में होती है और सन्देह देखे हुए पर होता है। एक ही दृश्य को अनेक दृष्टियों से देखा जाता है। दृष्टिभेद होने पर दृश्य के परिचय में अन्तर हो जाता है किन्तु देखने की रुचि में ही दृश्य का आकर्षण रहता है। देखने की रुचि तभी तक रहती है जब तक मानव अपनी वास्तविक माँग से अपरिचित रहता है। वास्तविक माँग बीज रूप से विद्यमान है, उसका स्पष्ट दर्शन देखे हुए, किये हुए के प्रभाव से रहित होने पर ही होता है। देखा हुआ मिला नहीं, किये हुए का परिणाम भाता नहीं, तब मानव विवश होकर सुने हुए में आस्था करता है। सुने हुए की अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता प्रदान करती है। सुने हुए की आत्मीयता तथा देखे हुए से विमुखता दृढ़ होने पर

नित्य-योग, बोध तथा प्रेम की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। क्रिया-जनित राग का नाश होने पर मिले हुए का सदुपयोग और देखे हुए से असंगता होती है। जिसके होते ही अपने ही में अपने प्रेमास्पद को पाकर मानव कृत-कृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से मानव-मात्र को मिले हुए का सदुपयोग करना, देखे हुए से असंग होना एवं सुने हुए प्रभु में आत्मीयता स्वीकार करना अनिवार्य है जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

निस्सन्देहता के बिना चैन से न रहने पर ही वास्तविक जिज्ञासा जाग्रत होती है। और अपने प्रकाशक तथा आश्रय की आत्मीयता ही अपनाना सर्वस्व है; यह निष्ठा ही मानव को भक्त बना देती है। जिज्ञासु जिज्ञासा होकर परम तत्त्व से अभिन्न होता है और भक्त भक्ती होकर अपने प्रेमास्पद को नित-नव-रस प्रदान करता है। पर मूक-सत्संग के बिना निस्सन्देहता तथा भक्ति की भूख जाग्रत नहीं होती। सन्देहयुक्त जीवन में ही मान तथा भूख की रुचि जीवित रहती है और निस्सन्देहता में ही योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से सन्देहरहित होना अनिवार्य है।

कर्त्तव्यपरायणता, असंगता एवं आत्मीयता की अभिव्यक्ति के लिये मूक-सत्संग ही अचूक उपाय है; कारण, कि जिसको अपने लिये कुछ नहीं करना है उसी में कर्त्तव्यपरायणता उदित होती है और जो अपने में अपना करके कुछ नहीं पाता तथा जिसे कुछ नहीं चाहिये उसी को असंगता प्राप्त होती है एवं जिसने अन्य विश्वास का अन्त कर केवल सुने हुए प्रभु में ही अविचल आस्था, श्रद्धा विश्वास को अपनाया है उसी को आत्मीयता प्राप्त होती है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग समस्त साधनों की भूमि है।

असत् के संग के प्रभाव से पराधीनता में जीवन-बुद्धि उत्पन्न

होती है परन्तु सत् के संग से स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश होता है। प्राकृतिक नियमानुसार संग का प्रभाव स्वतः होता है और मानव विना संग के अपने को कभी नहीं पाता अर्थात् किसी न किसी का आश्रय मानव में रहता ही है। यदि सत् का आश्रय अपना ले तो बड़ी सुगमतापूर्वक, निश्चिन्तता, निर्भयता एवं प्रियता को प्राप्त कर कृत-कृत्य हो जाता है और असत् के आश्रय से चिन्ता, भय तथा अनेक प्रकार की आसक्तियों में आबद्ध होता है। इस दृष्टि से संग का कितना प्रभाव होता है यह मानव-मात्र के लिये विचारणीय विषय है। सत्संग के बिना किसी भी प्रकार, कोई भी मानव निश्चिन्तता, निर्भयता एवं प्रियता से अभिन्न नहीं हो सकता अर्थात् साधननिष्ठ नहीं हो सकता। निश्चिन्तता में ही आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति तथा उसका सदुपयोग निहित है। भय रहित हुए बिना कोई भी परम शान्ति नहीं पाता। शान्ति के बिना नित्ययोग की अभिव्यक्ति नहीं होती। प्रियता में ही रस की अभिव्यक्ति होती है। इस कारण मानव-मात्र को निश्चिन्तता, निर्भयता एवं प्रियता से अभिन्न होना अनिवार्य है जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है।

असत् के संग से ही मानव निर्विकारता, शान्ति एवं स्वाधीनता से विमुख हो गया है। इतना ही नहीं, असत् के संग ने ही मानव को अनेक आसक्तियों में आबद्ध कर दिया है। समस्त निर्बलतायें असत् के संग के ही परिणाम हैं। इस कारण असत् के संग का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

प्राकृतिक नियमानुसार जो कुछ हो रहा है उससे कोई क्षति नहीं होती। क्षति का मूल अपनी भूल अर्थात् असत् का संग है। यदि मानव उत्पन्न हुई वस्तुओं का आश्रय न अपनाये तो वस्तुएँ

स्वयं किसी प्रकार के विकार को उत्पन्न नहीं कर सकतीं। इतना ही नहीं उनके सदुपयोग से भी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता, पर प्रमादवश वस्तुओं का आश्रय लेना और उनका दुरुपयोग करना मानव में अनेक दोष उत्पन्न करता है। वस्तुएँ स्वरूप से चाहे जैसी हों, पर उनका आश्रय तथा दुरुपयोग असत् है। उसी के त्याग का मानव पर दायित्व है। मूल वस्तुओं के उत्पादन की सामर्थ्य किसी मानव में नहीं है। उनका सदुपयोग तथा दुरुपयोग ही मानव कर सकता है। उनका दुरुपयोग असत् का संग है जो सर्वथा त्याज्य है।

वस्तुओं के आश्रय लेने से वस्तुएँ सुरक्षित रहेंगी ऐसा प्राकृतिक नियम नहीं है और आश्रय त्याग करते ही उनका उपयोग न हो सकेगा, ऐसा भी विधान नहीं है। आश्रय लेने से ही वस्तुओं की दासता उत्पन्न होती है जो मानव को पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में आबद्ध करती है। आश्रय उसी का सार्थक होता है जो अविनाशी है। इस दृष्टि से वस्तुओं के सदुपयोग का मानव-जीवन में भले ही स्थान है पर उनका आश्रय तो सर्वथा त्याज्य ही है। वस्तुओं के आश्रय ने ही संग्रह की रुचि तथा अप्राप्त का चिन्तन एवं उनके दुरुपयोग की वृत्ति को जन्म दिया है जो विनाश का मूल है। उत्पन्न हुई वस्तुओं का आश्रय मिटते ही अनुत्पन्न तत्त्व का आश्रय स्वतः हो जाता है जो वास्तव में सत्संग है। इस दृष्टि से संयोग को नित्य-योग में परिणत करने की सामर्थ्य एकमात्र सत्-संग में ही निहित है। सत्संग एक ऐसा अनुपम प्रयोग है जो वर्तमान में ही साध्य है और अपने ही द्वारा सम्भव है। उसके लिये भविष्य की आशा तथा पर की अपेक्षा नहीं है। उससे विमुख होने के समान और कोई असावधानी नहीं है।

सत्संग और उसका फल युगपद होते हैं अर्थात् सत् का संग

करते ही स्वतः समस्त साधनों की अभिव्यक्ति होती है। अतः सत्-संग ही वास्तव में मानव का अपना पुरुषार्थ है। उसका अधिकार उसे जन्मसिद्ध प्राप्त है। सत्संग से जिसकी प्राप्ति होती है उसकी प्राप्ति किसी अन्य प्रकार से नहीं होती। इस दृष्टि से सत्संग का त्याग करना अपने वास्तविक जीवन से विमुख होना है। अतः सत्-संग अद्वितीय है। इस अद्वितीय अनुपम उपाय को न अपनाना अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करना है।

मानव आश्रयरहित नहीं होता। सत् के आश्रय से योग, बोध, प्रेम को प्राप्त कर कृत-कृत्य होता है और असत् के आश्रय से भोग, मोह और आसक्ति में आबद्ध होता है। असत् का ज्ञान तथा सत् की आस्था मानव-मात्र में बीज रूप से विद्यमान है। मूक-सत्संग से असत् का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है और सत् की आस्था सजीव होती है। असत् के ज्ञान में ही असत् के त्याग की सामर्थ्य निहित है, अर्थात् असत् का ज्ञान तथा सत् का संग युगपद होते हैं। आस्था की सजीवता, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक सत् में आत्मीयता प्रदान कर असत् का त्याग करा देती है। विचार-पथ से असत् के त्याग से सत् का संग होता है।

मूक-सत्संग से विस्मृति नाश होती है। जिसके होते ही वास्त-विकता का बोध, कर्त्तव्यपरायणता और अगाधप्रियता स्वतः जाग्रत होती है। विस्मृति ने ही मानव को देहाभिमान, अकर्त्तव्य एवं आसक्ति में आबद्ध कर दिया है, इस कारण विस्मृति का अन्त करना अनिवार्य है जो एक मात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

अहंकृति पूर्वक निवृत्ति भी मूक-सत्संग नहीं है। आवश्यक प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः आनेवाली निवृत्ति मूक-सत्संग है। कर्त्तव्य-पथ की दृष्टि से भी कर्त्तव्य का अन्त मूक-सत्संग में ही होता है।

पर कब ? जब मानव फलासक्ति रहित हो जाय। विचारपथ अर्थात् निज अनुभव का आदर करने पर भी मूक-सत्संग सिद्ध होता है। विश्वासपथ की दृष्टि से शरणागत होने पर भी मूक-सत्संग सिद्ध होता है और मूक-सत्संग से सभी पथ स्वतः सिद्ध होते हैं अर्थात् मूक-सत्संग से ही समस्त साधनों की अभिव्यक्ति होती है और सभी श्रम-साध्य प्रयोग मूक-सत्संग में ही विलीन होते हैं। इस दृष्टि से मूक-सतसंग आदि में भी है और अन्त में भी। यह सभी को मान्य है कि सजगता सदैव शान्ति में ही निहित है। इस कारण शान्ति ही से सर्वतोमुखी विकास आरम्भ होता है। अतः प्रत्येक मानव को शान्ति का सम्पादन अनिवार्य है जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

यह सभी को मान्य होगा कि अहंकृति रहित हुए बिना विश्राम नहीं मिलता। विश्राम के बिना सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होती। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति में ही लक्ष्य की प्राप्ति निहित है। असमर्थता मानव को पराधीनता में आबद्ध करती है। असमर्थता का अन्त किसी परिस्थिति से सम्भव नहीं है; कारण, कि प्रत्येक परिस्थिति स्वभाव से ही अपूर्ण है। किसी न किसी प्रकार का अभाव प्रत्येक परिस्थिति में रहता ही है। कृति का महत्व परिस्थिति के सदुपयोग में है। परिस्थिति का सदुपयोग जीवन के एक भाग में है, समस्त जीवन में नहीं।

परिस्थितियों का आश्रय तथा प्रकाशक जो है उसमें अविचल आस्था और परिस्थितियों से अतीत के जीवन की खोज करना प्रत्येक मानव के लिये अनिवार्य है। अहंकृति रहित होते ही आस्था तथा खोज स्वतः उदित होती है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है। परन्तु किसी भी परिस्थिति में जीवन-बुद्धि नहीं रखना

है। परिस्थितियों के परिवर्तन का ज्ञान मानव को है। जिसके परिवर्तन का ज्ञान है वह उसका जीवन नहीं है। अतः कोई भी परिस्थिति जीवन नहीं हो सकती। जीवन की माँग जीवन के अस्तित्व को सिद्ध करती है। इस दृष्टि से जीवन है और उसकी प्राप्ति होती है। उससे निराश होना, उसमें अविचल आस्था न करना तथा उसकी खोज न करना असत् का संग है। अतः मूक-सत्संग में असमर्थता का अन्त तथा सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होने पर ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

श्रम और विश्राम दोनों ही जीवन के आवश्यक अङ्ग हैं। परन्तु श्रम का सम्बन्ध सृष्टि के साथ है। समस्त चेष्टायें व्यक्तिगत होते हुए भी किसी न किसी दृष्टि से समस्त सृष्टि के साथ सम्बन्ध रखती हैं। पर यह बात तभी स्पष्ट होती है जब मानव अपने ही द्वारा अपनी चेष्टाओं का विश्लेषण करता है। जिस किसी को जो कुछ करना है उसका सम्बन्ध 'पर' के साथ होता ही है अर्थात् अनेक चेष्टाओं से मिलकर कार्य की सिद्धि का सम्पादन होता है। ऐसी कोई चेष्टा ही हो नहीं सकती जिसका संबंध केवल उसी से हो जिसने चेष्टा आरम्भ की है। कार्य की सिद्धि एक दूसरे के सहयोग में ही निहित है। अतः वही करना सार्थक सिद्ध होगा जिसका आरम्भ पर-हित से हो। पर-हित में रति तभी होती है जब मानव किसी न किसी दृष्टि से सभी के साथ एकता स्वीकार करे। सभी के साथ एकता स्वीकार करना सत्संग है; कारण, कि समस्त सृष्टि एक है। उससे व्यक्तिगत विभाजन स्वरूप से सम्भव नहीं है। अनेक बाह्य भेद होने पर भी एकता है ही। यदि ऐसा न हो तो प्रत्येक कर्म का सम्बन्ध समस्त विश्व के साथ सम्भव ही न होता और संगठन के बिना कर्म का आरम्भ ही नहीं हो सकता। अतः

यह स्पष्ट ही है कि अनेकता के मूल में एकता स्वतः सिद्ध है। उस एकता की विस्मृति असत् का संग है जो अकर्त्तव्य में हेतु है। कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का निर्णय सत्संग से ही साध्य है। सभी के साथ आदर पूर्वक रहने के लिये यह आवश्यक है कि कोई ऐसा कार्य न किया जाय जो किसी के लिये भी अहितकर हो। सर्व-हितकारी प्रवृत्ति का उद्गम सत्संग ही है। जो किसी के लिये भी अहितकर है उसके करने का अधिकार मानव को नहीं है। जिसके करने का अधिकार नहीं है उसको न करना ही असत् का त्याग तथा सत् का संग है।

सत् के साथ भेद अथवा अभेद भाव से सम्बन्ध स्वीकार करना सत्संग है। भौतिकवाद की दृष्टि से समस्त सृष्टि एक होने से "सभी अपने हैं" यह सम्बन्ध स्वीकार करना सत्संग है। अध्यात्म-वाद की दृष्टि से समस्त सृष्टि से असंग होना सत्संग है और आस्तिकवाद की दृष्टि से श्रद्धा, विश्वासपूर्वक प्रभु में आत्मीयता स्वीकार करना सत्संग है।

सभी को अपना स्वीकार करते ही सर्वात्म-भाव अर्थात् विश्व-प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही कर्त्तव्य-परायणता की अभि-व्यक्ति और उदारता की जाग्रति स्वतः होती है। उदारता में करुणा तथा प्रसन्नता निहित है जो मानव को सुख-लोलुपता से रहित कर सेवा के रस से अभिन्न करती है।

निर्ममता, निष्कामतापूर्वक असंग होते ही मानव देहाभिमान रहित होकर स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश पाता है और अमरत्व से अभिन्न हो कृत-कृत्य होता है। जड़ता तथा पराधीनता शेष नहीं रहती और फिर स्वतः अखण्ड रस की अभिव्यक्ति होती है।

यह सभी को विदित है कि अपने में अपनी प्रियता स्वतः होती है।

अतः जब मानव अपने को प्रभु का और प्रभु को अपना स्वीकार करता है, तब स्वतः अगाध प्रियता से उदित अनन्त रस की अभिव्यक्ति होती है। वास्तविकता से भेद अथवा अभेद भाव से सम्बन्ध स्वीकार करना ही सत्संग है। सत्संग से मानव सुख की दासता तथा दुःख के भय से रहित हो रस से परिपूर्ण होता है जो स्वभाव से ही मानव-मात्र की वास्तविक माँग है। कुछ भी करने से पूर्व यदि सत्संग द्वारा मानव अपने लक्ष्य के सम्बन्ध में सन्देह-रहित हो जाता है तो फिर बड़ी सुगमतापूर्वक श्रम और विश्राम की वास्तविकता को भली भाँति अनुभव कर लेता है। श्रम की महत्ता पर सेवा में ही निहित है और विश्राम अपने लिये उपयोगी सिद्ध होत है। जिसे अपने लिये कुछ भी करना शेष नहीं है वही विश्वप्रेम आत्मरति तथा प्रभुप्रेम से परिपूर्ण होता है जो वास्तवि जीवन है।

यह मानव-मात्र का अनुभव है कि वह अपने में श्रम तथ विश्राम दोनों ही की आवश्यकता अनुभव करता है। किन्तु मूक-सत् संग के बिना श्रम और विश्राम की वास्तविकता से अपरिचित रहत है। मानव का बड़े से बड़ा श्रमी क्या विश्राम के बिना रह सकता है ? कदापि नहीं। जिन्होंने विश्राम के महत्त्व को नहीं जाना है वे स्वप्न तथा सुषुप्ति द्वारा वर्त्तमान परिस्थिति से असंग होते हैं। इससे यह स्पष्ट ही विदित है कि प्रवृत्ति का परिवर्तन तथा प्रवृत्ति की निवृत्ति अनिवार्य है। जाग्रत और स्वप्न में कोई भी सदैव नहीं रह सकता दोनों से अतीत सुषुप्ति प्रत्येक मानव को आवश्यक है। किन्तु जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाएँ देहाभिमान के आश्रित ह होती हैं। देहाभिमान रहित बिना हुए जाग्रत-सुषुप्ति जो वास्तव मे मूक-सत्संग से साध्य है, उपलब्ध नहीं होती और उसके बिन

विश्राम सजीव नहीं होता। "श्रम ही जीवन है", यह तभी तक प्रतीत होता है जब तक वास्तविक विश्राम अप्राप्त है। श्रम विश्राम के लिये ही उपयोगी है और विश्राम से ही आवश्यक सामर्थ्य मिलती है जिससे श्रम सिद्ध होता है अर्थात् श्रम द्वारा प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय और विश्राम से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। श्रम का महत्व पर-पीड़ा से पीड़ित होकर प्राप्त सामर्थ्य के सद्व्यय में है। पर श्रम द्वारा अपने को कुछ नहीं मिल सकता, यह वास्तविक तथ्य है। श्रम विश्राम की तैयारी है। जब मानव यह भली भाँति अनुभव कर लेता है कि श्रम अपने लिये नहीं है, अपितु विश्राम ही अपने लिये है तब बड़ी ही सुगमतापूर्वक असंगता तथा आत्मीयता से परम शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम से परिपूर्ण हो कृत-कृत्य हो जाता है। शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेम में ही वास्तविक जीवन निहित है।

यदि श्रमी श्रम के अन्त में विश्राम नहीं पाता तो समझना चाहिये कि श्रम विधिवत् नहीं किया और सर्वहितकारी प्रवृत्ति स्वतः नहीं होती तो मानना चाहिये कि वास्तविक विश्राम नहीं मिला। सर्वहितकारी प्रवृत्ति में ही श्रम की पूर्णता है। विश्व-प्रेम तथा पर-पीड़ा को अपनाये विना कर्त्तव्यपरायणता नहीं आती जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। यद्यपि असत् का ज्ञान मानव में बीज रूप से विद्यमान है, परन्तु मूक-सत्संग के बिना असत् से असंगता और सत् से अभिन्नता नहीं होती। सत् असत् का प्रकाशक है, नाशक नहीं। पर सत् का संग मानव को असत् से असंग तथा सत् से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से सत् का संग सत् से भी अधिक महत्वपूर्ण है। असत् से असंग होते ही असत् का नाश और सत् से अभिन्नता स्वतः होती है। यह दार्शनिक तथ्य है।

परन्तु असत् से असंग होते ही असत् का प्रभाव मिट जाता है और सत् का संग होते ही उसके प्रभाव की अभिव्यक्ति स्वतः होती है अर्थात् असाधन के नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति सत्संग में ही निहित है।

जिस प्रकार शरीर का प्रत्येक अवयव भिन्न-भिन्न प्रतीत होने पर भी वास्तव में शरीर से अभिन्न है उसी प्रकार सृष्टि की प्रत्येक वस्तु भिन्न-भिन्न होने पर भी सृष्टि से अभिन्न है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव की समस्त सृष्टि से एकता है। इस तथ्य में आस्था करने से बड़ी ही सुगमतापूर्वक सार्थक श्रम की अभिव्यक्ति होती है जो सुन्दर समाज के निर्माण और विश्व प्रेम की अभिव्यक्ति में हेतु है। जिन प्रवृत्तियों से सुन्दर समाज का निर्माण तथा विश्व प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती उन प्रवृत्तियों की उत्पत्ति असत् के संग से होती है। सत्संग के बिना विश्व शान्ति, संघर्ष का नाश एवं परस्पर एकता सम्भव नहीं है। सत्संग मानव को अकर्मण्यता तथा आलस्य से रहित कर कर्त्तव्यनिष्ठ बनाता है और पराधीनता, जड़ता, परिच्छिन्नता से रहित कर स्वाधीनता, चिन्मयता एवं असीम जीवन से अभिन्न करता है। इतना ही नहीं सत्संग से ही मानव अगाध अनन्त नित-नव-प्रियता से अभिन्न हो सर्व के प्रकाशक तथा आश्रय को रस प्रदान करता है, यह सत्संग की महिमा है।

प्राकृतिक नियमानुसार विश्राम की भूख श्रम की अपेक्षा अधिक है; कारण, कि श्रम का आरम्भ और अन्त विश्राम में ही निहित है। परन्तु जड़ता में विलीन होकर विश्राम की भूख मिटाना और जाग्रत तथा स्वप्न में क्रियाशीलता में रत रहना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सुषुप्ति के समान जाग्रत में ही विश्राम अपेक्षित है। उसी विश्राम से मानव वास्तविक जीवन से अभिन्न होता है।

ड़तामुक्त विश्राम श्रम के योग्य बनाता है, पर उसकी गति सृष्टि
। की ओर रहती है। सृष्टि के उद्गम तथा प्रकाशक की ओर
गति उस विश्राम से होती है जो विश्राम जाग्रत में उपलब्ध होता
; जिसके लिये एकमात्र मूक-सत्संग ही उपाय है।

जड़तायुक्त विश्राम मानव को देहाभिमान रहित नहीं कर
पाता, उसका परिणाम यह होता है कि बेचारा क्रियाजनित सुख-
लोलुपता अर्थात् करने के राग से रहित नहीं होता। उसके बिना
हुए देह से तादात्म्य नहीं मिटता और फिर क्रियाशीलता, चिन्तन
और सुषुप्ति में ही आबद्ध रहता है। किन्तु जड़तारहित विश्राम
क्रियाशीलता, चिन्तन एवं स्थिति से अतीत दिव्य चिन्मय जीवन
में अभिन्न करता है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग से साध्य विश्राम
ही वास्तव में विश्राम है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक कार्य के आरम्भ से पूर्व और
उसके अन्त में विश्राम स्वतः सिद्ध है परन्तु उस पर दृष्टि न रहने
से अथवा उसके वास्तविक महत्त्व को न जानने तथा न मानने से
विश्राम काल में भी मानव आगे पीछे का चिन्तन करता है अथवा
अपने आप होने वाले व्यर्थचिन्तन में आबद्ध हो जाता है। उससे
प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास ही होता है और सृष्टि के मूल की ओर
गतिशील नहीं हो पाता। जिसके बिना हुए नित्ययोग तथा बोध
एवं परम प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस कारण सहज भाव
से प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में अल्प-से-अल्प काल क्यों न

किन्तु कार्य के अन्त में कार्य से असंग होना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब "विश्राम में जीवन है", इस ध्रुव-सत्य में अविचल आस्था हो। वह जीवन जो मानव-मात्र का अपना जीवन है विश्राम से ही साध्य है। कर्त्तव्यपरायणता असंगता एवं शरणागति से मानव चिरविश्राम पाता है और विश्राम में जीवन है इस आस्था को अपना लेने पर मानव बड़ी ही सुगमतापूर्वक कर्त्तव्य-परायणता, असंगता एवं शरणागति प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से साधन और साध्य विश्राम में ही निहित हैं।

कार्य के अन्त में कार्य से असंगता क्यों नहीं होती, उसके मूल में यही भूल है कि कार्य की फलासक्ति और करने का राग मिटाने के लिये कार्य का आरम्भ नहीं किया अपितु करना ही जीवन है, इसी पर दृष्टि रक्खी। जीवन विश्राम में है करने में नहीं। यदि करने में जीवन होता तो कर्म-सामग्री अविनाशी होती, पर ऐसा नहीं है। कार्य करते-करते कर्म-सामग्री का नाश होता जाता है जिस सामग्री से कार्य का सम्पादन होता है वही नाश-रहित नहीं है तो क्रियाशीलता कैसे अविनाशी हो सकती है? विश्राम का कभी नाश नहीं होता। इस कारण विश्राम में ही अविनाशी जीवन है। यदि जन्म क्रियाशीलता है तो मृत्यु भी अनिवार्य है। जन्म मृत्यु में और मृत्यु जन्म में परिणत होती है। ऐसी कोई उत्पत्ति नहीं है जिसका विनाश न हो और ऐसा कोई विनाश नहीं है जिसकी उत्पत्ति न हो। उत्पत्ति-विनाश का क्रम ही समस्त सृष्टि है। उत्पत्ति-विनाश के क्रम को ही जब मानव स्थिति स्वीकार करता है तभी उसे सृष्टि में आस्था होती है। सृष्टि का आश्रय और प्रकाशक जो है उससे नित्य-योग, उसका बोध एवं उसमें अगाध-प्रियता विश्राम से ही साध्य है।

करना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। प्राकृतिक नियमानुसार पराधीनता के नाश में ही स्वाधीनता निहित है। पराधीनता का नाश करने की स्वाधीनता मानव-मात्र को स्वतः प्राप्त है परन्तु मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि को अपना मानने से मानव पराधीन हो गया है। प्राप्त वस्तु आदि की ममता ही अप्राप्त की कामना को जन्म देती है और कामनायुक्त मानव ही अहंकृति में आवद्ध होता है। इस वास्तविकता को भूल जाता है कि अपने लिये अपने को कुछ नहीं करना है। उसका परिणाम यह होता है कि "विश्राम में जीवन है" इस तथ्य में आस्था नहीं रहती। जिसे अपने लिये कुछ भी करना है वह स्वाधीन नहीं रह सकता, कारण; कि उसे किसी न किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि के आधीन होना ही पड़ता है जो वास्तव में असत् का संग है। मिली हुई वस्तु, योग्यता आदि का सदुपयोग विश्व की सेवा में है, अपने लिये नहं है, केवल विश्राम ही अपने लिये है। इस वास्तविकता को अपना पर ही मानव पराधीनता से रहित हो सकता है जो विकास क मूल है। पराधीनता सहन करना अपने को जड़ता में आवद्ध करन है। सजगता के बिना असत् का त्याग सम्भव नहीं है। इस कारण पराधीनता रहित होना अनिवार्य है जो एकमात्र विश्राम से ही साध्य है।

यदि स्वाधीनता किसी परिस्थिति विशेष में होती तो उसकी उपलब्धि मानव-मात्र को नहीं हो सकती; कारण, कि दो व्यक्ति भी सर्वांश में समान परिस्थिति के नहीं होते किन्तु श्रमरहित सभी हो सकते हैं। इस दृष्टि से विश्राम मानव-मात्र के लिये अनिवार्य है। विश्राम कोई अप्राप्त तथ्य नहीं है अपितु सभी को सर्वदा प्राप्त है। परन्तु असत् के संग से नित्य प्राप्त होने पर भी अप्राप्त जैसा

भासित होता है । आवश्यक कार्य करने में कोई भी मानव असमर्थ नहीं है। उसके अन्त में विश्राम से अभिन्नता होती है पर कार्य को ही जीवन मान लेने से विश्राम का स्पष्ट बोध नहीं होता । प्राकृतिक नियमानुसार आवश्यक कार्य सेवा का क्रियात्मक चित्र है। सेवा का अन्त स्वभाव से ही चिर-शान्ति अर्थात् विश्राम में होना चाहिये पर जब मानव किये हुए कार्य का फल स्वयं भोगने लगता है तब वह विश्राम से विमुख हो जाता है और मान तथा भोग की रुचि में आबद्ध हो पराधीन हो जाता है। वास्तविक सेवा की अभिव्यक्ति तभी होती है जब अपने लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है। मूक-सत्संग कल्पतरु के समान है अर्थात् आवश्यक सामर्थ्य, विचार का उदय, प्रीति की जाग्रति मूक-सत्संग में ही निहित है। सामर्थ्य का सद्व्यय करना अनिवार्य है पर अपने लिये तो विश्राम ही अपेक्षित है। दुरुपयोग न करने का निर्णय सामर्थ्य के सदुपयोग की प्रेरणा देता है। अपने लिये कुछ भी नहीं करना है तभी दुरुपयोग न करना सम्भव होता है। अपने लिये कुछ करना है, इस भूल से ही अकर्त्तव्य की उत्पत्ति होती है जो सर्वथा त्याज्य है। अपने में

एकता होती है। इस दृष्टि से कुछ न करने में ही सब कुछ विद्यमान है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव आवश्यक कार्य के आदि और अन्त में शान्त रहने का स्वभाव बना ले जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

मूक-सत्संग कोई उपाय नहीं है अपितु वास्तविक जीवन का एक पहलु है। उसके बिना सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं है। स्वाधीनता की भूख बड़ी ही सुगमतापूर्वक मूक-सत्संग से मानव को अभिन्न करती है। पराधीनता ने ही मानव को सत्संग से विमुख कर दिया है। इस कारण पराधीनता का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। स्वाधीनता स्वतःसिद्ध तथ्य है। स्वाधीनता की माँग पराधीनता का नाश कर मानव को स्वाधीनता से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से पराधीनता तभी तक जीवन में रहती है जब तक मानव स्वाधीनता के बिना चैन से रहता है। स्वाधीनता किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखती। इसी कारण मानव-मात्र को मिल सकती है। अन्य की अपेक्षा तो एकमात्र पराधीनता जनित सुख-लोलुपता के लिये ही होती है, जो असत् का संग है। अपने लिये कुछ नहीं करना है। जो नहीं करना चाहिये उसे भी नहीं करना है। जो करना चाहिये और जिसे कर सकते हैं उसे पूरा करके उसका अन्त कर देना है, जो हो रहा है उससे असहयोग और जो है उसमें आत्मीयता आदि से स्वाधीनता स्वतः प्राप्त होती है। भूतकाल चाहे जैसा क्यों न रहा हो, की हुई भूल न दुहराने से स्वाधीनता वर्तमान में प्राप्त होती है। समस्त दोषों का अन्त उनके न दुहराने में है। किसी गुण के द्वारा दोषों का नाश नहीं होता अपितु निर्दोषता में ही समस्त गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। दोष रहित होने के लिये गुणों के सम्पादन की अपेक्षा नहीं है

अपितु वर्तमान निर्दोषता को सुरक्षित रखना है जो एकमात्र स्वाधीनता की उत्कट लालसा से ही साध्य है; कारण, कि सभी दोष पराधीनता से ही पोषित होते हैं जिसे पराधीनता असह्य हो जाती है, वह मानव स्वत: निर्दोषता से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से स्वाधीनता का बड़ा ही महत्व है। पराधीनता रहते हुए अभाव का अभाव सम्भव ही नहीं है। स्वाधीनता होते ही अभाव का अभाव स्वत: हो जाता है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है। पराधीन रहने से मानव समष्टि शक्तियों से विद्रोह कर बैठता है और अन्त में पराजित होता है किन्तु स्वाधीन होते ही समष्टि शक्तियाँ स्वत: स्वागत करती हैं, यह वैज्ञानिक तथ्य है; कारण, कि स्वाधीन जीवन से किसी को भय नहीं होता। जिससे किसी को भय नहीं होता उसकी सेवा करने के लिये चराचर जगत् तत्पर रहता है पर उसे अपने लिये कुछ भी अपेक्षा नहीं रहती। अत: स्वाधीनता की भूख उत्तरोत्तर तीव्र होनी चाहिए। इतना ही नहीं, स्वाधीनता शब्द के उच्चारण में काल अपेक्षित है किन्तु स्वाधीनता की प्राप्ति में काल की अपेक्षा नहीं है। इस कारण स्वाधीनता सर्वदेश, सर्वकाल में सदैव प्राप्त हो सकती है। उससे निराश होना भारी भूल है। स्वाधीनता की उत्कट माँग मानव को मूक-सत्संग से अभिन्न करती है। कारण, कि स्वाधीनता के पुजारी को मूक-सत्संग से भिन्न और कुछ नहीं करना है। मूक-सत्संग अपने द्वारा होता है उसके लिये शरीर के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती। इस दृष्टि से मूक-सत्संग में स्वाधीनता और स्वाधीनता में मूक-सत्संग ओत-प्रोत हैं।

विषमता, दीनता और अभिमान, राग तथा द्वेष पराधीनता से ही जीवित हैं। समता, निरभिमानता, त्याग तथा प्रेम स्वाधीनता में ही निहित हैं। इस कारण स्वाधीनता वर्तमान में ही प्राप्त

नाश करने के लिये मूक-सत्संग अनिवार्य है। मूक-सत्संग देहाभिमान का अन्त करता है। देहाभिमान रहित होते ही स्वतः विश्राम की अभिव्यक्ति होती है। यह स्पष्ट ही है कि विश्राम की अभिव्यक्ति होने पर पराधीनता नहीं रहती अर्थात् स्वाधीनता स्वतः प्राप्त होती है। जब मानव शान्त-रस में रमण नहीं करता तब उसे अखण्ड-रस स्वतः प्राप्त होता है और अखण्ड-रस में सन्तुष्ट न रहने पर स्वतः अनन्त-रस की अभिव्यक्ति होती है। रस क्षति, पूर्ति, निवृत्ति से रहित है। इस कारण स्वभाव से ही शान्त अखण्ड में और अखण्ड अनन्त-रस में विलीन होता है।

यद्यपि पराधीनता एवं श्रम का नाश शान्त-रस की अभिव्यक्ति से ही हो जाता है परन्तु रस की कोई सीमा नहीं है। इस कारण अखण्ड और अनन्त विशेषण आवश्यक हो जाते हैं। परिच्छिन्नता का अत्यन्त अभाव अनन्त-रस की अभिव्यक्ति से ही होता है। अशान्ति तथा पराधीनता की उत्पत्ति ही न हो और शान्ति तथा स्वाधीनता का अभिमान न रहे तभी प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। प्रेम की अभिव्यक्ति में ही नीरसता का अत्यन्त अभाव है और नीरसता के नाश से ही अभाव का अभाव होता है। इस कारण मूक-सत्संग के द्वारा देहाभिमान रहित होने से ही नीरसता का सर्वांश में नाश होता है जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

देहाभिमान रहते हुए श्रम तथा पराधीनता रहती ही है। श्रम तथा पराधीनता से पीड़ित मानव विश्राम तथा स्वाधीनता को ही पूर्ण जीवन मानता है परन्तु विश्राम तथा स्वाधीनता प्राप्त होने पर सर्वांश में नीरसता का नाश नहीं होता; कारण, कि विश्राम एवं स्वाधीनता का अभिमान भेद तथा भिन्नता को जीवित रखता

है। यद्यपि विश्राम तथा स्वाधीनता स्वभाव से ही प्रिय तथा रसरूप एवं अविनाशी है, परन्तु "मैं शान्त तथा स्वाधीन हूँ" इस प्रकार का अहम्भाव जब तक शेष रहता है तब तक परिच्छिन्नता का नाश नहीं होता। परिच्छिन्नता स्वयं अपने को असह्य हो जाती है, तब अनन्त की अहैतुकी कृपालुता स्वयं प्रेम प्रदान करती है और फिर नीरसता का अत्यन्त अभाव स्वतः हो जाता है। इस दृष्टि से प्रेम की अभिव्यक्ति से ही जीवन की पूर्णता अर्थात् नीरसता का नाश तथा अभाव का अभाव होता है।

परिच्छिन्नता मानव को व्यक्तित्व के मोह में आबद्ध करती है और भेद तथा भिन्नता को जन्म देती है। इस कारण परिच्छिन्नता का नाश अनिवार्य है। किसी प्रकार का भी द्वन्द्व रहने पर परिच्छिन्नता का नाश नहीं होता। निज माँग तथा रुचि में भेद एक द्वन्द्वात्मक स्थिति है। माँग सत् की ओर और रुचि असत् की ओर आकर्षित करती है। माँग के आधार पर किया हुआ निर्णय रुचिकर न होने से स्थायी नहीं रहता और फिर मानव अधीर होकर हार मान बैठता है। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति में निर्णय के अनुरूप रुचि बिना हुए विकास नहीं होता। माँग के अनुरूप रुचि होने पर स्वतः विकास होता है।

का संग है। असत् का संग प्राकृतिक तथ्य नहीं है अपितु भूल-जनित है। जाने हुए के प्रभाव से प्रभावित होने पर भूल का नाश होता है और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक मानव माँग और रुचि के द्वन्द्व का अन्त कर सकता है। द्वन्द्व का अन्त होते ही रुचि माँग से अभिन्न होती है। रुचि और माँग की एकता ही माँग की पूर्ति में हेतु है। यह सभी को विदित है कि चाहते हुए भी अनुकूलता नहीं रहती और न चाहने पर भी प्रतिकूलता आ ही जाती है अर्थात् रुचि के विपरीत परिस्थिति आती ही है, किन्तु वास्तविक माँग नाश नहीं होती, इतना ही नहीं प्रतिकूलता आने पर सबल ही होती है। प्रतिकूलताओं का प्रभाव जब रुचि के परिवर्तन से समर्थ होता है तब माँग के अनुरूप किया हुआ निर्णय स्थायी हो जाता है और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक मानव अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। इस दृष्टि से माँग और रुचि का द्वन्द्व मिटाना अनिवार्य है।

माँग मिटकर रुचि में विलीन हो जाये, यह सम्भव नहीं है; कारण, कि माँग का उद्गम अपने ही में है और रुचि की उत्पत्ति पराश्रय से होती है। पराश्रय भूलजनित है। अतः माँग स्वाभाविक और रुचि अस्वाभाविक है। स्वाभाविकता की पूर्ति और अस्वाभाविकता की निवृत्ति विकास की भूमि है। माँग से निराश होना और रुचि-पूर्ति की आशा रखना अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करना है। रुचि की पूर्ति नवीन रुचि की जननी होती है और अन्त में रुचि की अपूर्ति ही शेष रहती है। इस कारण रुचि पूर्ति में जीवन नहीं है। किन्तु रुचि के विरुद्ध प्रवृत्ति निवृत्ति साँगोपाँग नहीं होती। किसी न किसी अंश में अधूरा-पन रहता ही है। यह स्पष्ट ही है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति ही मानव जीवन के दो पहलु हैं। सांगोपाँग प्रवृत्ति और निवृत्ति

से ही विकास होता है। इस कारण माँग और रुचि के द्वन्द्व का अन्त करना अनिवार्य है।

रुचि-पूर्ति को ही जीवन मान लेना अपने को पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में आबद्ध करना है। किन्तु रुचि के विपरीत वलपूर्वक किये गए प्रयोगों द्वारा भी तो जीवन में स्वाभाविकता नहीं आती। इस कारण रुचि में परिवर्तन लाना आवश्यक है। वह तभी सम्भव होगा जब मानव रुचि के उद्गम की खोज करे। रुचि के मूल में और माँग में वास्तविक भेद नहीं है। सौन्दर्य, ऐश्वर्य और माधुर्य सभी को स्वभाव से प्रिय है। स्वाभाविक प्रियता ही रुचिकर है। इस दृष्टि से माँग और रुचि में स्वाभाविक एकता है पर असत् के संग से मानव सीमित परिवर्तनशील सौन्दर्य ऐश्वर्य एवं माधुर्य को ही जीवन मान लेता है। बस, यही भूल रुचि और माँग में भेद उत्पन्न करती है। जो सीमित तथा परिवर्तनशील है उसका स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं है। जो नहीं है, उसी में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना सत् से विमुख होना है। किन्तु प्राकृतिक नियमानुसार सर्वांश में सत् का त्याग सम्भव नहीं है। सत् की विस्मृति तथा उसमें विमुखता भले ही हो जाये किन्तु उससे दूरी नहीं होती। इतना ही नहीं, सत् ही असत् को प्रकाशित करता है। असत् में सत्ता सत् ही की है। "जो है ही नहीं," उसका भास "जो है," उसी के आश्रित होता है। पर मानव प्रमादवश 'है' में 'नहीं' को न देखकर 'नहीं' में 'है' को आरोपित करने लगता है अर्थात् 'नहीं' को ही 'है' मान लेता है। इसी अवस्था में रुचि और माँग में भेद उत्पन्न होता है। माँग सदैव 'है' की ही होती है। 'नहीं' की नहीं। 'नहीं' की रुचि और 'है' की माँग से ही परिच्छिन्नता जीवित है। परिच्छिन्नता के नाश का दायित्व मानव-

मात्र पर है जो एकमात्र माँग तथा रुचि की एकता से ही सम्भव है।

सौन्दर्य की माँग जीवन की माँग है। सौन्दर्य उसे नहीं कहते जिससे अरुचि हो और वह भी सौन्दर्य नहीं है जो कभी रुचिकर और कभी अरुचिकर हो। सौन्दर्य वही हो सकता है जो सदैव रुचिकर रहे अर्थात् जिसमें उत्तरोतर प्रियता बढ़ती ही रहे। क्या इस प्रकार का सौन्दर्य किसी भी उत्पन्न हुई वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति देश-काल आदि में है? यदि नहीं है तो वस्तु व्यक्ति आदि की ममता, कामना एवं तादत्म्य मानव को सौन्दर्य से विमुख ही करता है। सौन्दर्य स्वरूप से नित्य तथा अनन्त है। अतएव उसके प्रति प्रियता भी नित्य तथा अनन्त ही होनी चाहिये। जो प्रियता सदैव नहीं रहती वह वास्तव में प्रियता नहीं है अपितु आसक्ति है। आसक्ति-जनित रुचि का नाश करना अनिवार्य है। आसक्ति से उत्पन्न हुई रुचि मानव को श्रमित करती है, शक्तिहीन बनाती है, चेतनाशून्य करती है सजगता नहीं रहने देती तथा उसमें असावधानी पोषित करती है, जो विनाश का मूल है। सीमित परिवर्तनशील सौन्दर्य वास्तव में सौन्दर्य नहीं है अपितु अनन्त, नित्य सौन्दर्य की माँग है। उसे देख वास्तविक, नित्य, अनन्त सौन्दर्य की माँग तथा उसकी खोज होनी चाहिये। पर यह तभी सम्भव होगा जब मानव वास्तविकता के बिना किसी भी प्रकार चैन से न रह सके। वास्तविकता की खोज किसी पराधीनताजनित उपायों से सम्भव नहीं है अपितु पराधीनता का अन्त करने पर ही मानव वास्तविकता की खोज कर सकता है जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

देखे हुए सौन्दर्य की रुचि तथा सुने हुए सौन्दर्य की माँग होती

है। इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि से जो कुछ देखने में आता है वह देखा हुआ ही है। सुना हुआ तो केवल वही है जो इन्द्रिय तथा बुद्धि से परे है। उसको किसी भी संकेत भाषा से कहा जाये, पर वह सुना हुआ है, देखा हुआ नहीं। देखा हुआ जो कुछ है उसी का प्रभाव रुचि के रूप में अंकित है और बिना देखे हुए की माँग है। यद्यपि देखे हुए का आश्रय तथा प्रकाशक वही है जो देखा हुआ नहीं है परन्तु मानव असत् के संग के कारण प्रकाशक तथा आश्रय को भूलकर देखे हुए को ही सब कुछ मान लेता है जो वास्तव में कुछ नहीं है, और जो सब कुछ है, उससे, 'कहाँ' है? 'कैसा है'? 'कुछ नहीं है' आदि कहकर विमुख हो जाता है, उसमें आस्था नहीं करता। उसी का यह परिणाम होता है कि माँग के रहते हुए भी मानव रुचि का दास हो जाता है जो संघर्ष तथा विनाश का मूल है।

देखे हुए में जो आकर्षण है वह उसी का है जो देखा हुआ नहीं है। जो देखा हुआ नहीं है, उसकी कोई सीमित परिभाषा नहीं की जा सकती। मानव की माँग ज्यों-ज्यों स्पष्ट होती जाती है त्यों-त्यों सुने हुए की महिमा प्रत्यक्ष होती जाती है और ज्यों-ज्यों महिमा प्रत्यक्ष होती जाती है त्यों-त्यों माँग और अधिक उत्कृष्ट तथा स्पष्ट होती जाती है। इतना ही नहीं, अनन्त की माँग भी अनन्त है। उसके सम्बन्ध में जितना भी कहा जाय कम है। अद्वितीय होने से अनुपम है पर वह सभी का अपना है। उसी में अनन्त सौन्दर्य, ऐश्वर्य तथा माधुर्य है।

अपना होने से अपने को अत्यन्त प्रिय है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव देखे हुए की रुचि को सुने हुए की माँग में विलीन कर माँग तथा रुचि के द्वन्द्व से रहित हो जाय।

आदि की आसक्ति में परिणत हो जाती है किन्तु यह सत् की महिमा है कि अनेक आसक्तियों के उत्पन्न होने पर भी स्वाभाविक प्रियता की माँग नष्ट नहीं होती। उस अविनाशी जीवन की खोज अथवा उसमें अविचल आस्था अनिवार्य है जो जाने हुए असत् के त्याग अर्थात् सत् के संग से ही साध्य है। जिसमें सौंदर्य तथा ऐश्वर्य है उसी में माधुर्य है। इन तीनों में परस्पर एकता है, विभाजन सम्भव नहीं है। जो सभी का है उसने किसी का त्याग न किया अपितु सदैव सभी को अपनाने के लिये तत्पर है। किन्तु रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव ममता, कामना एवं तादात से रहित हो जाय। साध्य और साधक में जातीय तथा स्वरूप स एकता होती है। जिसमें सौन्दर्य, ऐश्वर्य एवं माधुर्य है, वही सभ का साध्य है। उसी की माँग मानव-मात्र में विद्यमान है। सौन्दर ऐश्वर्य, माधुर्य की कोई सीमा नहीं है अर्थात् असीम हैं। जो असी है वह अविनाशी भी है। जो अविनाशी है वह दिव्य-चिन्मय भ है। उसी का योग, बोध तथा प्रेम मानव को अभीष्ट है जो मूक सत्सङ्ग से ही साध्य है। सौन्दर्य, ऐश्वर्य और माधुर्य साध्य का स्वरूप है और साधक का जीवन है। ममता ने मानव को सौन्दर्य से, कामनाओं ने ऐश्वर्य से और तादात्म्य ने माधुर्य से विमुख कर दिया है अथवा यों कहो कि उत्पन्न हुई वस्तुओं की ममता, कामना तथा तादात्म्य ने मानव के सौन्दर्य, ऐश्वर्य एवं माधुर्य को अपहृत कर लिया है जो असत् के संग का परिणाम है। मूक-सत्सङ्ग के द्वारा सर्वांश में असत् के आश्रय का नाश हो जाता है जिसके होते ही निर्ममता से उदित सौन्दर्य, निष्कामता से प्राप्त ऐश्वर्य और आत्मीयता से जाग्रत माधुर्य स्वतः अभिव्यक्त होता है, जिसके ही साधक और साध्य में दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं रहती,

वास्तविक जीवन है।

यह स्पष्ट ही है कि ममता, कामना तथा तादात्म्य भूलजनित ही हैं अर्थात् जब मानव मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग करता है तब ममता, कामना, तादात्म्य उत्पन्न होते हैं, जिनके उत्पन्न होते ही निर्विकारता, परमशान्ति तथा स्वाधीनता अपहृत हो जाती हैं। तब अपने आप दुःख आता है जो मानव को स्वभाव से प्रिय नहीं है। ज्यों-ज्यों दुःख का प्रभाव सबल तथा स्थायी होता जाता है त्यों-त्यों मानव अपनी भूल से परिचित होता जाता है। यह नियम है कि भूल के ज्ञान में ही भूल का नाश निहित है। भूल रहित होते ही निर्ममता, निष्कामता एवं असंगतापूर्वक निर्विकारता, परम शान्ति तथा स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है जो मानव-मात्र को स्वभाव से ही अभीष्ट है। इस दृष्टि से आये हुए दुःख के प्रभाव से मिली हुई स्वाधीनता के दुरुपयोग का परिणाम नष्ट हो जाता है और जो मानव अपने में अपने को विकारी, अशान्त तथा पराधीन पाता था, वह अपने को निर्विकार, परमशान्त एवं स्वाधीन पाता है। न चाहने पर भी दुःख क्यों आया? मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग क्यों किया? इस मूल प्रश्न पर विचार करना अनिवार्य है।

दुःख के आने में किसी की करुणा निहित है और मिली हुई स्वाधीनता के दुरुपयोग में मानव की असावधानी ही का स्पष्टीकरण होना है। यदि असावधानी प्राकृतिक दोष होता तो उसकी निवृत्ति नहीं होती। निवृत्ति प्राकृतिक नियमानुसार उसी की होती है जो भूलजनित है। यदि स्वाधीनता किसी की देन न होती तो क्या मानव उसका दुरुपयोग करता? कदापि नहीं। स्वाधीनता जिसका स्वरूप है उसमें भूल की गंध भी नहीं होती। जिस प्रकार

सूर्य में अन्धकार नहीं है अपितु नेत्रों में अन्धकार की उत्पत्ति होती है; यद्यपि नेत्र में सत्ता सूर्य ही की है पर अन्धकार में हेतु नेत्र का दोष है, सूर्य का नहीं, उसी प्रकार उस अनन्त की दी हुई स्वाधीनता के दुरुपयोग का दायित्त्व मानव पर है, अनन्त पर नहीं। अपने किये हुए दुरुपयोग को न दुहराने का दायित्त्व भी मानव ही पर है। दुरुपयोग का परिणाम न चाहते हुए भी भोगना पड़ता है। इससे यह स्पष्ट ही हो जाता है कि दुरुपयोग भूल-जनित है, जो वास्तव में असत् का संग है। किये हुए दुरुपयोग के परिणाम का प्रभाव सदुपयोग की प्रेरणा देता है, यह वैधानिक तथ्य है। विधान का अनादर असत् का संग है जिसका मानव जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। विधान का आदर अर्थात् सत्संग करते ही विकारी अपने को निर्विकार, अशान्त अपने को परमशान्त एवं पराधीन अपने को स्वाधीन पाता है। यह निर्विकारता, परमशान्ति तथा स्वाधीनता अपने को तथा जगत् को मोहित कर सकती है किन्तु इस महिमा के आधार पर कोई भी मानव उस पर अधिकार नहीं पाता जिसने करुणित होकर दी हुई स्वाधीनता के सदुपयोग की प्रेरणा दी है। वे कितने उदार हैं, इस सम्वन्ध में जितना कहा जाय कम है अर्थात् उनकी उदारता का वारापार नहीं है। यहाँ तक कि मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग-जनित निर्विकारता, परमशान्ति एवं स्वाधीनता प्राप्त होने पर मानव अपने ही को सब कुछ मान लेता है पर उस करुणानिधि को इससे कोई क्षोभ नहीं होता अपितु प्रसन्नता ही होती है। वे कितने सभी के अपने हैं! जो उन्हें नहीं मानता, उसको भी उसी के रूप में प्राप्त होते हैं और यदि कोई उनकी करुणा के प्रभाव से ही प्रभावित होकर उन्हें अपना मान लेता है, तो उसे वे अगाधप्रियता प्रदान करते हैं,

जिसके जाग्रत होते ही मानव निर्विकारता, परमशान्ति एवं स्वाधीनता तथा अगाधप्रियता से परिपूर्ण होता है। प्रियता की अभिव्यक्ति निर्विकारता, परमशान्ति एवं स्वाधीनता के महत्त्व को खा लेती है किन्तु निर्विकारता, परमशान्ति एवं स्वाधीनता ज्यों की त्यों सुरक्षित रहती है। निर्विकारता आदि के अभिमान के गलते ही परिच्छिन्नता की गंध भी नहीं रहती, जो सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। यह स्पष्ट ही है कि गुण-दोष के आश्रित ही परिच्छिन्नता जीवित रहती है। निर्दोषता की अभिव्यक्ति होने पर गुणों का भास अपने ही में होता है। यद्यपि दोष भूलजनित एवं गुण प्राकृतिक हैं, परन्तु मानव प्राकृतिक विभूतियों को अपनी मान बैठता है, जो भारी भूल है। उसका परिणाम यह होता है कि निर्दोष होने पर भी परिच्छिन्नता नाश नहीं होती, जो भेद की जननी है। इस कारण निरभिमानता प्राप्त करने के लिये उस करुणानिधि में आत्मीयता स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। निरभिमानता अहंभाव रूपी अणु का अन्त करने में समर्थ है। पर यह रहस्य मूक-सत्संग से ही स्पष्ट होता है। अहंकृति के रहते हुए निरभिमानता की अभिव्यक्ति नहीं होती और मूक-सत्संग के बिना अहंकृति का नाश नहीं होता। इस दृष्टि से मूक-सत्संग में ही मानव के पुरुषार्थ की परावधि है अर्थात् करने का अन्त है। प्राकृतिक नियमानुसार 'करने' के अन्त में ही 'होने' की अभिव्यक्ति निहित है। 'होने' में प्रसन्न रहने से जो हो रहा है उसमें उसकी महिमा का स्पष्ट दर्शन होने लगता है, जो सभी का आश्रय तथा प्रकाशक है। महिमा का दर्शन होते ही स्वतः अविचल आस्था, श्रद्धा विश्वासपूर्वक आत्मीयता जाग्रत होती है, जिसके होते ही अगाध, अनन्त, नित-नव-रस का स्रोत प्रवाहित होता ही रहता है, जो वास्तविक-

जीवन है। रस की भूख मानव-मात्र की अपनी भूख है। यद्यपि निर्विकारता, परमशान्ति एवं स्वाधीनता में भी रस है किन्तु आत्मीयता से जाग्रत अगाधप्रियता के रस का तो वारापार नहीं है। इसी दृष्टि से रस की तीन श्रेणियाँ हैं: शान्त, अखण्ड एवं अनन्त। शान्त एवं अखण्ड-रस की अभिव्यक्ति होने पर यद्यपि जड़ता, पराधीनता एवं अभाव नहीं रहते परन्तु दुःख निवृत्ति, परम-शान्ति तथा स्वाधीनता के आश्रय अहम्‌रूपी अणु का अत्यन्त अभाव नहीं होता। इस कारण आत्मीयता से जाग्रत प्रियता में ही मानव जीवन की पूर्णता निहित है। प्रियता से उदित रस शान्त तथा अखण्ड-रस का पोषक है, नाशक नहीं। प्रियता एकमात्र अहम् की ही नाशक है, जिसके नाश से ही सदा के लिये दूरी, भेद तथा भिन्नता शेष नहीं रहती अर्थात् योग, बोध एवं प्रेम से अभिन्नता हो जाती है, जो मानव अर्थात् साधक का जीवन तथा साध्य का स्वभाव है।

समस्त दोषों की उत्पत्ति का कारण मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग है। स्वाधीनता के दुरुपयोग की रुचि क्या प्राकृतिक दोष है अर्थात् किसी की देन है अथवा अपनी भूल है? जिसने मानव को स्वाधीनता प्रदान की है क्या वह उसके दुरुपयोग की प्रेरणा देगा? कदापि नहीं। जगत् का बीज तथा तत्त्व की जिज्ञासा मानव-मात्र में विद्यमान है। तत्त्व की जिज्ञासा जगत् के बीज को भस्मीभूत कर जगदाधार से जातीय-एकता, नित्य-सम्बन्ध तथा आत्मीयता प्रदान करती है। जिज्ञासा 'मैं' और 'यह' के ही सम्बन्ध में होती है। 'यह' और 'मैं' की वास्तविकता का बोध होने पर अहम् और मम् का नाश होता है। मम् के नाश से निर्विकारता और अहम् के नाश से दूरी, भेद तथा भिन्नता का अन्त होना है

अर्थात् योग, बोध एवं प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। यह स्पष्ट ही है कि सर्वांश में मम् का नाश होते ही निष्कामता तथा असंगता स्वतः प्राप्त होती है। इस दृष्टि से निर्विकारता में ही शान्ति तथा स्वाधीनता निहित है किन्तु अहम् का नाश हुए बिना सर्वांश में दूरी, भेद तथा भिन्नता का अन्त नहीं होता। अहम् का नाश आत्मीयता से ही होता है, असंगता से नहीं। असंगता पराधीनता का नाश करती है और स्वाधीनता से अभिन्न करती है किन्तु स्वाधीनता-जनित रस का प्रलोभन अहम् को जीवित रखता है। आत्मीयता की अभिव्यक्ति अहम्‌रूपी अणु को खा लेती है और अगाध-प्रियता से अभिन्न करती है।

'यह' की प्रीतीति और 'मैं' का भास मानव में स्वाभाविक है किन्तु 'यह' और 'मैं' की वास्तविकता की खोज भी मानव ही में है। 'यह' और 'मैं' की खोज करते करते स्वतः 'है' का बोध होता है, 'मैं' का नहीं। 'मैं' 'है' की प्रीति से भिन्न कुछ नहीं है। खोज का प्रयास खोज के अन्त में स्वतः नाश हो जाता है अर्थात् अहंकृति शेष नहीं रहती अपितु अहम्-स्फूर्ति भले ही हो। अहंकृति के मिटते ही अपने ही में अपने प्रेमास्पद को पाकर मानव कृत-कृत्य होता है। अपने ही में अपने प्रेमास्पद को पाने का अन्तिम उपाय आत्मीयता से जाग्रत अगाधप्रियता ही है। इस दृष्टि से अगाधप्रियता की भूख में ही जीवन की पूर्णता निहित है। काम की निवृत्ति परम-शान्ति से और जिज्ञासा की पूर्ति अमरत्त्व से एवं अगाधप्रियता की जागृति अनन्त-रस से अभिन्न करती है।

है। भूल अपने में है, तत्त्व में नहीं। भूल का अत्यन्त अभाव तभी हो सकता है जब अपने ही में अपने प्रेमास्पद को अपनाया जाय। अपने में अपने प्रेमास्पद की स्वीकृति भेद की जननी नहीं है अपितु भिन्नता की नाशक है। अहम्भाव ही परिच्छिन्नता को और परिच्छिन्नता भेद को जन्म देती है। सर्व का आश्रय तथा प्रकाशक सदैव ज्यों का त्यों है उसमें भूल की गंध भी नहीं है। भूल अपने ही में अपनी असावधानी से उत्पन्न होती है। अपनी असावधानी यही है कि मानव अपने प्रेमास्पद को अपने से भिन्न में खोजता है किन्तु पाता नहीं; कारण, कि प्रेमास्पद से देश-काल आदि की दूरी नहीं हे। जिससे देशकाल की दूरी नहीं है उससे न जानने तथा न मानने की दूरी भासती है। जो सर्व का प्रकाशक तथा ज्ञाता है, उसको जानने का प्रयास उसको भूलना है। जिस प्रकार नेत्र से कोई नेत्र को नहीं देखता अपितु आकृति को ही देखता है किन्तु जिससे देखता है वही नेत्र है, उसी प्रकार सर्व के आश्रय तथा प्रकाशक का कोई ज्ञाता नहीं हो सकता अतः प्रेमास्पद अर्थात् परम-तत्त्व को जाना नहीं जाता अपितु प्राप्त किया जाता है, जो एकमात्र आत्मीयता से जाग्रत प्रियता से ही साध्य तथा सुलभ है। इतना ही नहीं, प्रेमास्पद को स्वीकार न करने पर भी प्रेमास्पद की प्राप्ति होती है; कारण, कि 'है' से दूरी, भेद तथा भिन्नता सम्भव नहीं है। 'है' को 'मैं' के रूप में तथा निर्विकारता, परमशान्ति, स्वाधीनता, अमरत्व आदि विभूतियों के रूप में 'है' की ही प्राप्ति होती है किन्तु 'है' को 'है' के रूप में प्राप्ति का मूलमंत्र 'है' की अगाध-प्रियता ही है। अतः अपने में अपने प्रेमास्पद की स्वीकृति अनिवार्य है।

खोज के मूल में माँग ही हेतु है अर्थात् जिसकी आवश्यकता

होती है उसी की खोज होती है। माँग जिसमें होती है वही खोजता है। अतः अपने में उसी की माँग है जो अपने ही में है। किन्तु प्रियता के अभाव से दूरी तथा भेद प्रतीत होता है। जिसकी आवश्यकता है उसमें अविचल आस्था करना भी तो उसकी प्राप्ति में ही हेतु है। इस दृष्टि से खोज तथा आस्था दोनों ही प्रशस्त पथ हैं। खोज के अन्त में आस्था स्वतः होती है और आस्था के आधार पर भी खोज की जाती है। इस दृष्टि से खोज में आस्था और आस्था में खोज ओत-प्रोत है। मानव को खोज तथा आस्था की सामर्थ्य स्वतः प्राप्त है। खोज से आस्था को सजीव बनाना अथवा आस्था से खोज करना, यह स्वाधीनता प्रत्येक मानव को प्राप्त है। अपने से भिन्न को स्वीकार न करना भी तो अपने से भिन्न की की हुई स्वीकृतियों को मिटाने का उपाय ही तो है। यदि अपने ही में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार कर लिया जाय तो अपने सहित सब कुछ उसी की प्रीति हो जाता है।

जिज्ञासु का जिज्ञासा से भिन्न कोई अस्तित्व नहीं है। अतः जिज्ञासापूर्ति होने पर जिज्ञासु का कोई अस्तित्व नहीं रहता। इस दृष्टि से भी तो 'मैं' 'है' में ही विलीन होता है। 'है' को 'मैं' में विलीन करना क्या सम्भव है ? कदापि नहीं। लहर सागर में विलीन होती है, सागर लहर में नहीं। सागर और लहर का भेद जल में नहीं है। क्या लहर सागर में नहीं है ? उसी प्रकार प्रीति और प्रीतम का भेद प्रियतम में नहीं है; कारण, कि प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव और प्रीति ही में प्रियतम का नित्यवास है। 'मैं' और 'है' का भेद 'है' में नहीं है, यह 'है' की ही महानता है किन्तु 'मैं' 'है' को अस्वीकार कर 'मैं' को ही स्वीकार करे क्या यह 'मैं' की भूल नहीं है ? 'मैं' और 'है' का भेद प्रीति और प्रीतम के स्वरूप

में है। प्रीति में सत्ता प्रीतम से भिन्न की नहीं होती और प्रीति ने प्रीतम से भिन्न को पाया ही नहीं। 'मैं' की अभिन्नता प्रीति से होती है और प्रीति सदैव प्रीतम से अभिन्न है। इस दृष्टि से प्रीति होकर प्रीतम की प्राप्ति सहज, सुलभ तथा स्वाभाविक है। अतः अपने में ही अपने प्रेमास्पद को स्वीकार करने में सफलता अनिवार्य है।

'यह' की खोज करने पर 'यह' का स्वतंत्र अस्तित्त्व नहीं रहता और 'मैं' की खोज करने पर भी 'मैं' 'है' की प्रीति हो जाता है। 'यह' और 'मैं' दोनों में यदि एकता न होती तो 'मैं' को 'यह' की प्रतीति ही न होती। 'यह' और 'मैं' भोग की रुचि से ही भिन्न मालूम होते हैं। मूक-सत्संग द्वारा नित्ययोग प्राप्त होने पर 'यह' और 'मैं' की वास्तविकता का बोध स्वतः हो जाता है। 'यह' की आसक्ति 'मैं' का 'यह' से सम्बन्ध जोड़ती है, जो वास्तव में भूल-जनित है। 'है' की प्रीति 'यह' की आसक्ति को खाकर 'मैं' को 'है' से अभिन्न करती है और फिर प्रीति और प्रीतम का नित्य-विहार ही शेष रहता है, जो वास्तविक जीवन है। 'यह' कुछ नहीं है अथवा 'है' की ही अभिव्यक्ति है, यह दार्शनिक तथ्य है। 'यह' की आसक्ति से ही 'मैं' का 'यह' से सम्बन्ध होता है। 'है' की उत्कट लालसा 'मैं' का 'यह' से सम्बन्ध विच्छेद करने में समर्थ है। सर्वांश में आसक्ति का नाश होने पर लालसा की पूर्ति स्वतः होती है, यह वैज्ञानिक तथ्य है। 'है' की लालसा 'है' में और 'यह' की आसक्ति 'यह' में नहीं होती। जिसमें 'यह' की आसक्ति और 'है' की लालसा है वही 'मैं' है।

आसक्ति की निवृत्ति और लालसा की पूर्ति होने पर 'मैं' 'है' के योग, बोध एवं प्रेम से भिन्न कुछ नहीं है। पर यह रहस्य मूक-

सत्संग से ही स्पष्ट होता है।

योग, बोध और प्रेम मानव की वास्तविक माँग है; कारण, कि भोग, मोह और आसक्ति का परिणाम मानव को पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में आबद्ध करता है जिसकी निवृत्ति अत्यन्त आवश्यक है जो एकमात्र योग, बोध तथा प्रेम से ही सम्भव है। योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति किसी परिस्थिति विशेष की अपेक्षा नहीं रखती अपितु प्रत्येक परिस्थिति में सम्भव है। किन्तु प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन का नाश अनिवार्य है, जो एकमात्र निर्ममता तथा निष्कामता से ही साध्य है।

योग की पूर्णता में बोध और बोध की पूर्णता में प्रेम ओत-प्रोत हैं। इस कारण नित्ययोग की अभिव्यक्ति अत्यन्त आवश्यक है, जिसके लिए मूक-सत्संग ही अचूक उपाय है। संयोग-जनित सुख-लोलुपता का नाश होने पर ही नित्ययोग की अभिव्यक्ति होती है। मूक-सत्संग मानव को संयोग की दासता से रहित करने में समर्थ है। संयोग की दासता का अन्त होने पर वियोग का भय स्वतः नाश हो जाता है, जिसके होते ही मोह की निवृत्ति तथा बोध की अभिव्यक्ति होती है। बोध की अभिव्यक्ति में ही अखण्डस्मृति अर्थात् अगाधप्रियता निहित है। इस दृष्टि से योग में बोध और बोध में प्रेम ओत-प्रोत हैं, पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव योग, बोध आदि के अभिमान से रहित हो जाता है। निरभिमानता के बिना सर्वांश में परिच्छिन्नता का नाश नहीं होता, जो भेद तथा भिन्नता की जननी है। परिच्छिन्नता किसी न किसी अवस्था के आश्रय से ही जीवित रहती है। सभी अवस्थाओं से असंग होने पर निरभिमानता की अभिव्यक्ति होती है और फिर परिच्छिन्नता शेष नहीं रहती।

क्रियाशीलता, चिन्तन तथा स्थिति अवस्थाएँ हैं। अकर्त्तव्य
नाश में कर्तव्य-परायणता और व्यर्थचिन्तन का नाश होते
सार्थक चिन्तन की जाग्रति तथा अचिन्तता स्वत: आती है जो ए
मात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है। अकर्तव्य तथा व्यर्थचिन्तन के म
में असत् का संग ही हेतु है। अत: असत् के संग के त्याग में
समस्त दोषों की निवृत्ति निहित है। भेद की उत्पत्ति होने पर
मानव संयोग की दासता तथा वियोग के भय में आबद्ध होता है
इस कारण भेद का अन्त करना अनिवार्य है, जो परिच्छिन्नता
नाश से ही सम्भव है। परिच्छिन्नता का नाश किसी अभ्यास
सम्भव नहीं है; कारण, कि अभ्यास के लिये देह का आश्रय अपेक्षि
होता है। देहाभिमान के रहते हुए परिच्छिन्नता का नाश सम्भ
नहीं है। देहाभिमान गलाने में मूक-सत्संग ही मूल-मंत्र है।

प्राण तथा वृत्तियों का निरोध एक अवस्था है, नित्ययोग नहीं
नित्ययोग की अभिव्यक्ति अवस्थाओं से असंग होने में ही निहि
है। सभी अवस्थाओं का प्रकाशक स्वरूप से सभी अवस्थाओं
अतीत है। अवस्थाओं के आश्रय से ही मानव नित्ययोग से विमुख
होता है। यद्यपि प्रत्येक अवस्था स्वभाव से ही परिवर्तनशील है
परन्तु मानव अवस्थाओं से तद्रूप होकर अवस्थाओं में जीवन-बुद्धि
स्वीकार कर लेता है, जो वास्तव में असत् का संग है।

सत् सभी अवस्थाओं में ज्यों का त्यों है। उसका संग किसी
अवस्था के आश्रित नहीं है अपितु विश्राम से ही साध्य है। सत् के
संग में सत् की अनुरक्ति ही हेतु है। अनुरक्ति किसी श्रम-साध्य
प्रयोग से जाग्रत नहीं होती अपितु आत्मीयता से ही साध्य है। अनु-
रक्ति जिसमें जाग्रत होती है, उसको अपने से अभिन्न कर लेती है
अर्थात् अनुरक्ति से भिन्न अनुरक्ति में और कुछ नहीं है किन्तु

जिसके प्रति जाग्रत होती है उसके लिये रसरूप सिद्ध होती है। यह अनुरक्ति की विलक्षणता है।

सभी आसक्तियों का सर्वांश में समावेश अनुरक्ति में ही होता है। यदि विरक्ति असत् से असंग करती है तो अनुरक्ति सत् से अभिन्न करती है। इतना ही नहीं, विरक्ति का अन्त अनुरक्ति में ही होता है। आसक्ति जिसमें उत्पन्न होती है, उसे अपने से अभिन्न नहीं कर पाती। इसी कारण आसक्ति के रहते हुए परिच्छिन्नता शेष रहती है किन्तु अनुरक्ति की यह विलक्षणता है कि जिसमें जाग्रत होती है उसके अस्तित्व को अपने से भिन्न नहीं रहने देती। इसी कारण अनुरक्ति की जाग्रति से ही परिच्छिन्नता का अत्यन्त अभाव होता है। योग, बोध, प्रेम कोई अवस्था विशेष नहीं है अपितु मानव का जीवन है। इस दृष्टि से योग, बोध तथा प्रेम से अभिन्न होना अनिवार्य है। भोग, मोह तथा आसक्ति के रहते हुए नित्ययोग की माँग शिथिल भले ही हो जाय, नाश नहीं होती।

मूक-सत्संग से नित्ययोग की माँग तीव्र होती है। ज्यों ज्यों नित्ययोग की माँग तीव्र होती जाती है त्यों त्यों भोग की रुचि स्वतः मिटती जाती है। भोग की रुचि का नाश होते ही मोह तथा आसक्ति शेष नहीं रहते। सर्वांश में भोग की रुचि का नाश तथा नित्ययोग युगपद होते हैं। नित्ययोग वर्तमान जीवन की वस्तु है। उससे निराश होने के समान और कोई भारी भूल नहीं है। किये हुए का परिणाम कालान्तर में स्वतः नाश हो जाता है किन्तु मूक-सत्संग से साध्य नित्ययोग अविनाशी जीवन से अभिन्न करता है। इतना ही नहीं, नित्यमिलन तथा नित्यविरह नित्ययोग में ही निहित है। विरह और मिलन में स्वरूप से भेद नहीं है; कारण, कि विरह में मिलन और मिलन में विरह ओत-प्रोत है।

इसी कारण अनुरक्ति क्षति, पूर्ति एवं निवृत्ति से रहित है। क्षति, पूर्ति एवं निवृति से रहित होने से ही अनुरक्ति नित-नव तथा अनन्त है। अनन्त को रस देने में अनुरक्ति ही समर्थ है। अनुरक्ति में सत्ता उसी की है जिसकी वह अनुरक्ति है। इस दृष्टि से प्रेम और प्रेमास्पद के नित्यविहार में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है, जो एकमात्र नित्य-योग से ही साध्य है।

संयोग की दासता ही एकमात्र नित्ययोग में बाधक है। संयोग की रुचि मानव को नित्यप्राप्त से विमुख कर प्रतीति की ओर आकर्षित करती है और किसी न किसी प्रवृत्ति को जन्म देती है। प्रवृत्ति से प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास ही होता है, प्राप्त कुछ नहीं होता। यह स्पष्ट ही है कि प्रवृत्तियों का परिणाम जो वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि के रूप में प्रतीत होता है, उसमें भी तो सतत परिवर्तन ही है। परिवर्तन उत्पत्ति विनाश का क्रम है। अतः प्रवृत्ति के परिणाम में किसी अस्तित्व की प्राप्ति नहीं होती। उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश में स्थिति केवल प्रतीति मात्र है। वास्तव में तो वह उत्पत्ति विनाश का प्रवाह ही है, स्थिति नहीं। किन्तु संयोग की रुचि नाश होते ही सहज-निवृत्ति पूर्वक स्वतः नित्ययोग की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से संयोग की दासता का अन्त करना अनिवार्य है। संयोगजनित चेष्टाएँ अखण्ड नहीं होतीं। संयोग की रुचि के कारण निवृत्ति में भी प्रवृत्ति भासती है। संयोग की रुचि का नाश होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति स्वतः निवृत्ति में विलीन होती है। निवृत्ति में ही नित्ययोग निहित है। निवृत्ति करनी नहीं पड़ती अपितु अपने आप होती है। प्रवृत्ति के फल में करने की रुचि होती है जो मानव को देहाभिमान में आबद्ध करती है। देहाभिमान के रहते हुए संयोग की दासता का

नाश नहीं होता । देहाभिमान का अन्त करने के लिये सहज निवृत्तिपूर्वक मूक-सत्संग अनिवार्य है । प्रतीति और 'प्राप्त' में एक बड़ा भेद यह है कि प्रतीति की आस्था प्रवृत्तियों को जन्म देती है किन्तु परिणाम में अभाव ही शेष रहता है । यद्यपि 'प्राप्त' की प्रतीति नहीं होती परन्तु 'प्राप्त' में आस्था निवृत्तिपूर्वक अभाव का अभाव करने में समर्थ होती है । किसी भी प्रवृत्ति द्वारा अभाव का अभाव नहीं होता, यह वैज्ञानिक तथ्य है । सहज तथा स्वाभाविक निवृत्ति से अपने आप अभाव का अभाव हो जाता है; कारण, कि निवृत्ति 'प्राप्त' से दूरी, भेद, भिन्नता नहीं रहने देती । इस दृष्टि से सहज निवृत्ति अर्थात् मूक-सत्संग अभाव का अभाव करने में समर्थ है ।

नित्यप्राप्त में अविचल आस्था अथवा प्रतीति की वास्तविकता का परिचय सहज निवृत्ति में हेतु है । सहज निवृत्ति का कभी नाश नहीं होता । प्रवृत्तिकाल में भी निवृत्ति ज्यों की त्यों रहती है किन्तु उसका अनुभव प्रवृत्ति के आरम्भ से पूर्व और प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः होता है । जो आदि में और अन्त में होता है, वह मध्य में भी रहता है, उसका भास भले ही न हो । जो वस्तु जैसी भासित होती है, क्या वह वास्तव में वैसी ही होती है ? यदि होती तो प्रवृत्ति जिस आकर्षण से आरम्भ होती है, मानव को उसकी प्राप्ति होनी चाहिए थी । पर ऐसा नहीं होता । प्रतीति का आकर्षण प्रवृत्ति को जन्म देकर प्रवृत्ति-कर्त्ता को अभाव में ही आबद्ध करता है । इस दृष्टि से यह स्पष्ट हो है कि प्रतीति का आकर्षण वास्तविक नहीं है अपितु भूलजनित

होती है जो विकास की भूमि है।

प्रवृत्ति की सार्थकता प्रतीति की वास्तविकता के बोध में ही है। प्रतीति की वास्तविकता का बोध स्वतः प्रवृत्तिकर्त्ता को नित्ययोग से अभिन्न करता है।

अविचल आस्था उसी में होती है जिसे इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से देखा नहीं है अर्थात् प्रतीति में अविचल आस्था सम्भव नहीं है। प्रतीति के सम्बन्ध में जिज्ञासा होती है, आस्था नहीं। प्रतीति का आकर्षण नाश होते ही निष्कामता की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही स्वतः जिज्ञासा की पूर्ति अर्थात् वास्तविकता का बोध हो जाता है; कारण, कि निष्कामता प्रतीति से विमुख कर नित्यप्राप्त से अभिन्न करती है। अभिन्नता प्रीति की प्रतीक है। इस दृष्टि से जिज्ञासा की पूर्ति और प्रीति की जाग्रति युगपद होते हैं; कारण, कि ज्ञान में प्रेम और प्रेम में ज्ञान ओत-प्रोत हैं। यदि ज्ञान और प्रेम का विभाजन हो जाय तो ज्ञानरहित प्रेम काम और प्रेमरहित ज्ञान शून्यता में आबद्ध करता है, जो अभाव रूप है। वास्तव में ज्ञान और प्रेम का विभाजन सम्भव ही नहीं है। जिज्ञासा की पूर्ति में प्रेम का प्रादुर्भाव और प्रेम की अभिव्यक्ति में जिज्ञासा की पूर्ति स्वतः होती है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव प्रतीति के आकर्षण से रहित हो सहज निवृत्ति से नित्ययोग को अपनाये। नित्यप्राप्त की अविचल आस्था भी मानव को सहज निवृत्ति प्रदान करती है; कारण, कि आस्था श्रद्धा, विश्वासपूर्वक शरणागति प्रदान करती है। शरणागत में अन्य विश्वास, सम्बन्ध तथा चिन्तन शेष नहीं रहते, अपितु अखण्ड स्मृति जाग्रत होती है। अखण्ड-स्मृति अन्य की विस्मृति कर दूरी, भेद तथा भिन्नता को शेष नहीं रहने देती अर्थात् नित्य-

प्राप्त में अगाधप्रियता जाग्रत करती है, जो वास्तविक जीवन है। इस दृष्टि से प्रतीति की वास्तविकता के परिचय से जो जीवन मिलता है वही 'प्राप्त' की अविचल आस्था से भी मिलता है, पर विश्वास तथा विचार दोनों ही स्वतंत्र पथ हैं। विश्वास और विचार दोनों ही से सत् का संग होता है। सत्संग में ही सर्वतो-मुखी विकास निहित है। मूक-सत्संग विश्वास तथा विचार दोनों ही पथों के लिये समान है; कारण, कि विचार का उदय तथा प्रीति की जाग्रति मूक-सत्संग से स्वतः होती है। सत् का संग श्रम-साध्य नहीं है। इस कारण मूक-सत्संग ही वास्तविक सत्संग है।

सत्चर्चा तथा सत्चिन्तन से सत्संग की अभिरुचि जाग्रत होती है। परन्तु सर्वांश में असत् का त्याग किये बिना सत् का संग नहीं होता। सत्संग के लिये 'पर' की अपेक्षा नहीं है। अपने ही द्वारा अपने को करना है। इस कारण प्रत्येक मानव कर सकता है। यह नियम है कि सत्संगी ही साधननिष्ठ होता है। इस दृष्टि से सत्-संग मानव-मात्र के लिये अत्यन्त आवश्यक है। सत्संग के बिना कोई ऐसा उपाय है ही नहीं कि मानव सर्वांश में असाधन रहित, साधननिष्ठ हो जाय। आंशिक साधन और असाधन का द्वन्द्व तो मानव-मात्र में जन्मजात है, पर सर्वांश में असाधन का अन्त करना ही वास्तव में मानव का पुरुषार्थ है। असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति हो सकती है; कारण, कि साधनपरायणता प्राप्त

लिये मानव को कुछ भी नहीं करना है। पर यह बात मानव भूल जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि मानव वह करने लगता है जो उसे नहीं करना चाहिये और सामर्थ्य-विरोधी कार्य करना चाहता है, यद्यपि कर नहीं पाता परन्तु उन कार्यों को अपने में जमा रखता है, जो वास्तव में व्यर्थचिन्तन है। व्यर्थचिन्तन का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। सार्थक-चिन्तन की अभिव्यक्ति व्यर्थचिन्तन के नाश होने पर होती है। जो नहीं करना चाहिये तथा जिसे नहीं कर सकते वह कार्य सभी को सर्वथा त्याज्य है। ऐसा करते ही जो करना चाहिये और जिसे मानव कर सकता है, वह समष्टि शक्तियों से स्वतः होने लगता है। इतना ही नहीं उसके करने का अभिमान भी अंकित नहीं होता। उसका परिणाम यह होता है कि विद्यमान राग की निवृत्ति होती है और नवीन-राग की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् मानव बड़ी ही सुगमतापूर्वक राग-रहित हो जाता है, जो नित्ययोग की भूमि है। जो सर्वथा त्याज्य है, उसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। अतः जानी हुई बुराई को किसी भी प्रलोभन तथा भय से नहीं करना है और की हुई बुराई को दुहराना नहीं है। बस स्वतः निर्दोषता से अभिन्नता हो जायगी। निर्दोषता अप्राप्त नहीं है अपितु नित्य-प्राप्त है। किन्तु बुराई को बुराई जान लेने पर भी बुराई का त्याग नहीं करते, उसी का परिणाम यह होता है कि विद्यमान निर्दोषता अप्राप्त प्रतीत होती है। आंशिक निर्दोषता का अनुभव तो मानव-मात्र को स्वभाव से ही है, पर सर्वांश में निर्दोषता की प्राप्ति जाने हुए दोषों के त्याग से ही होती है, किसी अन्य प्रकार से नहीं होती। किसी गुण विशेष से दोष निवृत्त हो जायँ, यह सम्भव नहीं है। जाने हुए दोषों के त्याग से समस्त दिव्य-गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है,

यह प्राकृतिक तथ्य है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं जो आंशिक निर्दोषता में सन्तुष्ट नहीं होते अपितु दोषों की सर्वांश निवृत्ति ही जिन्हें अभीष्ट है। निर्दोषता की माँग में ही दोषों के त्याग की सामर्थ्य निहित है। जिसकी प्राप्ति आवश्यकता अनुभव करने मात्र से ही होती है, उसे वर्त्तमान में प्राप्त न करना भारी भूल अर्थात् असत् का संग है जो सर्वथा त्याज्य है।

दोषयुक्त जीवन किसी को कभी भी स्वभाव से प्रिय नहीं है किन्तु आंशिक निर्दोषता के अभिमान से मानव-दोषों को पोषित करता है। आंशिक निर्दोषता का अभिमान समस्त दोषों का मूल है। सर्वांश में दोषी होना किसी भी मानव के लिये सम्भव ही नहीं है, यह प्राकृतिक तथ्य है। अतः आंशिक दोषों की निवृत्ति प्रत्येक मानव को वर्तमान में ही करना है। दोष का त्याग और निर्दोषता की अभिव्यक्ति युगपद होते हैं। निर्दोष जीवन में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है। निर्दोष होने में कोई भी मानव पराधीन तथा असमर्थ नहीं है। यह प्राकृतिक तथ्य है। दोषों का असह्य होना और निर्दोषता की उत्कट लालसा मानव को बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्दोषता से अभिन्न करते हैं। बिना करे कोई भी दोष अपने आप नहीं होता; कारण, कि दोष प्राकृतिक तथ्य नहीं है अपितु दोषों की

सामर्थ्य के दुरुपयोग से ही दोषों की उत्पत्ति होती है। अतः सामर्थ्य का दुरुपयोग न करने पर किसी भी दोष की उत्पत्ति ही नहीं होती। इतना ही नहीं, गुणों का अभिमान भी नहीं होता। दोषों की उत्पत्ति तथा गुणों का अभिमान न हो, यही वास्तविक निर्दोषता है, जो मानव-मात्र को मिल सकती है।

अदूरदर्शिता, द्वन्द्व, संवेगात्मक-असंतुलन, अशान्ति आदि से असावधानी उत्पन्न तथा पोषित होती है। अदूरदर्शिता का नाश सजगता से ही सम्भव है। सजगता शान्ति के सम्पादन से ही साध्य है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग से ही असावधानी मिट सकती है। यह स्पष्ट ही है कि श्रमित होने पर जड़ता अपने आप आती है जिसके आते ही दूरदर्शिता नहीं रहती और फिर मानव द्वन्द्वात्मक स्थिति में आबद्ध हो जाता है जिसके होते ही संतुलन नहीं रहता जो अशान्ति में हेतु है। शान्ति भंग होते ही सावधानी नहीं रहती जो विनाश का मूल है।

श्रम-रहित होते ही जड़ता शेष नहीं रहती और फिर स्वतः सजगता तथा शान्ति का सम्पादन होता है। शान्ति के सम्पादन में ही विचार का उदय, सामर्थ्य की अभिव्यक्ति तथा स्मृति जाग्रत होती है। विचार का उदय होते ही अविचार स्वतः नाश हो जाता है। अविचार के अन्त में ही देहाभिमान की निवृत्ति निहित है जो विकास की भूमि है।

असमर्थता का नाश तथा सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होते ही अकर्त्तव्य शेष नहीं रहता और फिर मानव बड़ी सुगमतापूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने में सफल होता है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही द्वन्द्वात्मक स्थिति का नाश निहित है। द्वन्द्व रहित होते ही संवेगात्मक-असंतुलन शेष नहीं रहता और

फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक मानव असावधानी का अन्त करने में समर्थ होता है।

असावधानी के अन्त में ही विस्मृति का नाश तथा स्मृति की जाग्रति निहित है। विस्मृति के कारण ही जो नित्यप्राप्त है वह अप्राप्त जैसा प्रतीत होता है। विस्मृति के नाश तथा स्मृति की जाग्रति से नित्यप्राप्त की प्राप्ति होती है और फिर दूरी, भेद एवं भिन्नता शेष नहीं रहती। दूरी के नाश में ही नित्ययोग और भेद का अन्त होते ही बोध एवं अभिन्नता में अगाधप्रियता ओत-प्रोत हैं। इस दृष्टि से स्मृति से ही प्राप्ति, बोध एवं प्रीति की जाग्रति होती है जो वास्तविक जीवन है। अकर्त्तव्य, देहाभिमान तथा आसक्तियों की उत्पत्ति में विस्मृति ही हेतु है। विस्मृति का नाश किसी अभ्यास से नहीं होता अपितु स्मृति की जाग्रति तथा विस्मृति का नाश युगपद होते हैं। स्मृति जगाने के लिये श्रम रहित होना अनिवार्य है। जब मानव क्रियाजनित सुख में आबद्ध रहता है तब विस्मृति उत्पन्न होती है; कारण, कि क्रिया में रत्त मानव उत्पन्न हुई वस्तु आदि से तद्‌रूप हो जाता है जिसके होते ही विस्मृति उत्पन्न होती है। श्रमरहित होने से स्वतः उत्पन्न हुई वस्तु आदि की वास्तविकता का परिचय तथा उनसे असंगता होती है। श्रमासक्ति ही तीनों शरीरों से संग उत्पन्न करती है। श्रमरहित हुए बिना असंगता उदित नहीं होती और असंगता के बिना जड़ता, पराधीनता आदि विकारों का नाश नहीं होता। इस कारण श्रम रहित होने अर्थात् मूक-सत्संग से ही असंगता की अभिव्यक्ति होती है जिसके होते ही अखण्ड स्मृति स्वतः जाग्रत होती है, जो प्रीति प्राप्ति एवं बोध में हेतु है। स्मृति में ही तत्त्वज्ञान, परमप्रेम एवं नित्ययोग निहित हैं। स्मृति के लिये किसी कारण की अपेक्षा नहीं

है अपितु यह मूक-सत्संग से ही साध्य है।

मूक-सत्संग के बिना देहाभिमान का नाश सम्भव नहीं है। देहाभिमान के रहते हुए चिर-विश्राम, परम-शान्ति, स्वाधीनता एवम् प्रेम की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। देहाभिमान देह-जनित श्रम से ही पोषित है। इस कारण विश्राम ही देहाभिमान गलाने में हेतु है। इस वास्तविकता की विस्मृति ने ही मानव को पराधीनता, जड़ता, अशान्ति, विषमता, परिच्छिन्नता आदि विकारों में आवद्ध कर दिया है। प्राकृतिक नियमानुसार श्रम विश्राम के लिये ही आदरणीय है और विश्राम से ही आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है जो श्रम में हेतु है। विश्राम की महिमा न जानने तथा न मानने से जो दुर्गति हुई है वह मानव-मात्र को स्पष्ट ही है। जो जीवन अपने लिये, जगत् के लिये एवं प्रभु के लिये उपयोगी है, वह विश्राम के न अपनाने से सभी के लिये अनुपयोगी हो गया है। इस दुर्गति का कारण कुछ और नहीं है अपितु 'विश्राम में जीवन है' इस तथ्य में अविचल आस्था न करना है।

यह स्पष्ट ही है कि जब तक मानव अपना संकल्प रखता है अर्थात् निःसंकल्प नहीं होता तब तक विश्राम अर्थात् नित्ययोग से विमुख ही रहता है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक मानव निःसंकल्प होने में पराधीन तथा असमर्थ नहीं है अपितु सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। प्रत्येक संकल्प की पूर्ति किसी अन्य के संकल्प से ही होती है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव वर्त्तमान वस्तुस्थिति से भली भाँति परिचित हो जाय। यद्यपि संकल्प की उत्पत्ति प्राकृतिक तथ्य है परन्तु उससे असहयोग करने में मानव सर्वदा स्वाधीन है। उत्पन्न हुए संकल्पों से असहयोग करते ही अनावश्यक तथा अशुद्ध संकल्प स्वतः नाश हो जाते हैं और आवश्यक

तथा शुद्ध संकल्प पूरे होकर नाश हो जाते हैं। अपना संकल्प रखने से मानव संकल्प-पूर्ति का सुख भोगने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि नवीन संकल्प उत्पन्न होते रहते हैं और अन्त में संकल्प अपूर्ति ही शेष रहती है जो किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। यद्यपि संकल्प-पूर्ति-काल में भी पराधीनता ही रहती है परन्तु संकल्प-अपूर्ति-काल में तो पराधीनता-जनित व्यथा उत्पन्न होती है। संकल्प-पूर्ति-काल की पराधीनता मधुर विष है और संकल्प-अपूर्ति-काल की पराधीनता क्षोभ तथा क्रोध से दग्ध करती है। इस दृष्टि से अपना संकल्प अपने लिये अनुपयोगी सिद्ध होता है। यह वैधानिक तथ्य है कि जो अपने लिये अनुपयोगी है वह किसी के लिये भी उपयोगी नहीं होता। इस कारण अपने लिये उपयोगी होना अनिवार्य है जो एकमात्र निःसंकल्पता से ही हो सकता है। जिसका अपना संकल्प नहीं रहता वह बड़ी ही सुगमता पूर्वक समता के साम्राज्य में नित्यवास पाता है। समता से उदित जो रस है वह संकल्प-पूर्ति से कभी भी सम्भव नहीं है। संकल्प मानव को उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि में आबद्ध करता है। संकल्प और आवश्यकता में एक बड़ा भेद है। संकल्प का उद्‌गम देहाभिमान है और आवश्यकता अपने में जाग्रत होती है। इसी कारण आवश्यकता की पूर्ति तथा संकल्प की निवृत्ति अनिवार्य है।

विषमता, जड़ता, पराधीनता, परिच्छिन्नता आदि की निवृत्ति मानव की आवश्यकता है। उसकी पूर्ति अनिवार्य है। जब मानव अपने में अपना संकल्प नहीं रखता तब बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्विकारता से अभिन्न होता है और स्वतः उदारता की अभिव्यक्ति होती है जिसके होते ही जीवन जगत् के लिये उपयोगी होता है।

उदारता की माँग समस्त विश्व को सदैव रहती है। उदारतायुक्त जीवन ही जगत् के लिये उपयोगी होता है। उदारता की अभिव्यक्ति होते ही सभी अपने हो जाते हैं, तथा पराधीनता की गंध भी नहीं रहती। उदारता प्रेम का ही क्रियात्मक रूप है। उदारता में त्याग स्वाभाविक है। इस दृष्टि से उदारता, त्याग तथा प्रेम में रस-भेद भले ही हो, स्वरूप-भेद नहीं है। अपने संकल्प में बंधा हुआ मानव पराधीनता, अशान्ति, विषमता आदि से पीड़ित तथा जड़ता में आबद्ध रहता है। इस कारण वर्तमान में ही अपने को संकल्परहित करना है जो मूक-सत्सङ्ग से ही साध्य है। अपने संकल्प ने ही अपने को परिच्छिन्नता में आबद्ध कर दिया है जो भेद तथा भिन्नता की जननी है। भेद ने तत्त्वज्ञान से और भिन्नता ने प्रेम से मानव को विमुख कर दिया है। तत्त्वज्ञान के बिना जीवन अपने लिये और प्रेम के विना जीवन प्रभु के लिये अनुपयोगी होता है। परिच्छिन्नता का अन्त करने के लिये अपने में अपना संकल्प नहीं रखना है। विश्व के संकल्प में अपना संकल्प विलीन करने से उदारता स्वतः जाग्रत होती है और संकल्पातीत जीवन की खोज करने से असंगता से प्राप्त स्वाधीनता और विश्व के आश्रय तथा प्रकाशक के संकल्प में अपना संकल्प विलीन करने से आत्मीयता से जाग्रत अगाध-प्रियता स्वतः प्राप्त होती है। इस दृष्टि से मानव उदारता, असंगता एवं आत्मीयता से युक्त विश्व के लिये, अपने लिये एवं प्रभु के लिये उपयोगी होता है जो वास्तविक जीवन है।

अपने अस्तित्त्व को स्वीकार करते हुए यह अनिवार्य हो जाता है कि मानव अपने पर कोई दायित्त्व भी अनुभव करे। प्राकृतिक नियमानुसार दायित्त्व वही है जिसे पूरा करने की स्वाधीनता मानव को स्वतः प्राप्त है। इस दृष्टि से मानव स्वाधीनतापूर्वक दायित्त्व

को पूरा कर अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकता है। अतः मानव-जीवन में असफलता के लिये कोई स्थान ही नहीं है। सफलता मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है। यह असत् के संग का परिणाम है कि मानव अपने को असफल पाता है। दायित्व और लक्ष्य का स्पष्ट ज्ञान मानव-मात्र को हो सकता है पर उसके लिये उसे मूक-सत्सङ्ग अपनाना अनिवार्य होगा; कारण, कि श्रमरहित होकर अविनाशी का संग बिना किये मानव अपने दायित्व तथा लक्ष्य का स्पष्ट दर्शन नहीं कर सकता। अविनाशी का संग मानव को मिले हुए के दुरुपयोग न करने की प्रेरणा देता है। अतः मानव अविनाशी का संग करते ही कर्त्तव्यनिष्ठ हो जाता है।

विनाशी के संग से काम की उत्पत्ति होती है जो मानव को पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में आबद्ध करती है। यह स्वाधीनता मानव को है कि वह विनाशी अथवा अविनाशी का संग करे। उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि में ममता तथा उसकी कामना विनाशी का संग है। उसी का यह परिणाम है कि बेचारा मानव विषमता में आबद्ध हो गया है जिसके होने से ही अनेक प्रकार के संघर्ष तथा द्वन्द्व उत्पन्न हो गये हैं। संघर्ष ने असमर्थता में और द्वन्द्व ने अशान्ति में आबद्ध कर दिया है जो विनाश का मूल है। असमर्थता का अर्थ सामर्थ्य का अभाव नहीं है अपितु प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग है जो वास्तव में असत् का संग है।

प्राप्त का दुरुपयोग करते हुए कोई भी मानव कभी भी सफलता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं पाता। यदि असफलता है तो प्राप्त का दुरुपयोग अवश्य किया है जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि के दुरुपयोग न करने का अविचल निर्णय सत्सङ्ग है; कारण, कि कोई भी मानव

किसी से अपने प्रति वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि के दुरुपयोग की
आशा नहीं करता । अतः यह स्पष्ट ही है कि प्राप्त वस्तु, योग्यता,
सामर्थ्य आदि के दुरुपयोग का किसी भी मानव को अधिकार नहीं
है । जो नहीं है, उसी को अपनाना ही तो असत् का संग है अर्थात्
अनधिकार चेष्टा करना असत् का संग है । उसके न करने का अवि-
चल निर्णय सत् का संग है । 'न करने' से अविनाशी का संग स्वतः
होता है । अतः विश्राम में अविनाशी का संग निहित है । अकर्त्तव्य
के स्पष्ट दर्शन में कर्त्तव्य का यथेष्ठ ज्ञान निहित है । इस कारण
प्रत्येक मानव अपने दायित्व को भली भाँति अनुभव कर सकता है।
दायित्व की पूर्ति और लक्ष्य की प्राप्ति युगपद होते हैं । अतः यह
निर्विवाद है कि मानव-जीवन में असफलता के लिये कोई स्थान
ही नहीं है । असफलता-जनित वेदना असत् के त्याग की अभिरुचि
तथा सामर्थ्य प्रदान करती है । 'सफलता अनिवार्य है' यह अविचल
आस्था असफलता-जनित वेदना जाग्रत करती है जिसमें सर्वतोमुखी
विकास निहित है ।

सफलता की भूख मानव की अपनी भूख है । उसे शिथिल कर
देना भारी भूल है । भूतकाल चाहे जैसा क्यों न बीता हो यदि वर्त-
मान में सफलता की भूख जाग्रत है तो विकास अनिवार्य है । यह
सभी को विदित है कि असफलता किसी को भाती नहीं, यह प्राकृ-
तिक तथ्य है । इस कारण सफलता की भूख जगाना अत्यन्त आव-
श्यक है । उसके बिना मानव-जीवन की सार्थकता सम्भव नहीं है ।
जो भाता नहीं है उसकी व्यथा और जो अभीष्ट है उसकी उत्कट
लालसा क्या स्वाभाविक नहीं है ? यदि है तो सफलता की भूख
जाग्रत हो सकती है । उससे निराश होना और असफलता को सहन
करना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है । अप्राप्त वस्तु,

योग्यता, सामर्थ्य आदि की प्राप्ति में भले ही पराधीनता हो किन्तु प्राप्त वस्तु आदि के दुरुपयोग न करने में तो मानव सर्वदा स्वाधीन है। प्राकृतिक नियमानुसार प्राप्त के सदुपयोग में ही अप्राप्त की प्राप्ति निहित है अथवा प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के सदुपयोग से ही मानव वस्तु, अवस्था आदि से अतीत के जीवन में प्रवेश पाता है जिसमें विषमता की गंध भी नहीं है।

समता के साम्राज्य में ही सर्वोत्कृष्ट जीवन की उपलब्धि निहित है। इस दृष्टि से मानव-मात्र वास्तविक जीवन से अभिन्न हो सकता है। अतः असफलता सहन करना और सफलता से निराश होना प्राकृतिक तथ्य नहीं है अपितु अपनी ही भूल है। अपनी भूल के ज्ञान में ही भूल का नाश निहित है जो एकमात्र मूक-सत्सङ्ग से ही साध्य है। जब मानव अपने द्वारा अपने दायित्व का अनुभव कर लेता है तब उसे दायित्व पूरा करने में कोई कठिनाई नहीं होती अर्थात् दायित्व पूरा करना स्वाभाविक हो जाता है।

अपने दायित्व का ज्ञान अपने ही में है। जो अपने ही में है, उसके लिये पर की ओर देखना अपने ही द्वारा अपने को वास्तविकता से विमुख करना है जो वास्तव में असत् का संग है। माँग और दायित्व, दोनों का स्थान एक है। एक के बोध में दूसरे का बोध निहित है। इस कारण प्रत्येक मानव दायित्व की पूर्ति एवं लक्ष्य की प्राप्ति में सर्वदा स्वाधीन है। अपने दायित्व तथा अपनी माँग को अपने द्वारा अनुभव न करने के कारण ही मानव अपने को दायित्व पूरा करने में असमर्थ अनुभव करता है और लक्ष्य से निराश होता है। यह वास्तविकता नहीं है अपितु असत् के संग का परिणाम है जिसकी निवृत्ति मूक-सत्सङ्ग से ही होती है।

प्रत्येक मानव को वह प्राप्त है जिसके सदुपयोग में उसका

सर्वतोमुखी विकास निहित है। प्राप्त के दुरुपयोग के कारण ही मानव अप्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का चिन्तन करता है और अपने को पराधीन बनाता है। यद्यपि मानव-जीवन पराधीनता के नाश के लिये ही मिला है, पराधीन होने के लिये नहीं, परन्तु अपनी ओर न देखने के कारण मानव पराधीनता में आबद्ध होता है। अनन्त काल की पराधीनता का अन्त मानव-जीवन में ही सम्भव है; कारण, कि स्वाधीनता की माँग मानव-मात्र में स्वाभाविक है। स्वाभाविक माँग को दबा देना और अस्वाभाविक कामनाओं में आबद्ध होना असत् का संग है।

दायित्व का सम्बन्ध प्राप्त परिस्थिति से है। इस कारण मानव अपने दायित्व को वर्तमान में ही पूरा कर सकता है। वास्तविक माँग मानव की अपनी माँग है। अपनी माँग से किसी भी मानव को कभी भी निराश नहीं होना है अपितु नित-नव आशा अनिवार्य है। प्राकृतिक नियमानुसार निराशा के नाश में ही वास्तविक आशा सजीव तथा जाग्रत होती है जो विकास की भूमि है। वास्तविक माँग से निराश होने पर दायित्व पूरा करने का उत्साह नहीं होता। उत्साह-हीन जीवन में नीरसता उत्पन्न होती है। यह स्पष्ट ही है कि नीरसता की भूमि में ही काम की उत्पत्ति होती है जो विनाश का मूल है अर्थात् समस्त दोषों की उत्पत्ति काम में ही निहित है। नीरसता का नाश नित-नव-उत्साह की जाग्रति में ही निहित है। 'सफलता अनिवार्य है' यह अविचल आस्था ही मानव में नित-नव-उत्साह बढ़ाती है।

असफलता असह्य हो जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक सफलता में अविचल आस्था हो सकती है। असफलता को सहन करते रहना अपनी ही बनाई हुई दुर्बलता है। असफलता-जनित वेदना से अपने

को बचाने का प्रयास करना असत् का संग है जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

प्राकृतिक नियमानुसार वर्तमान की वेदना ही भविष्य की उपलब्धि होती है। इस कारण असफलता-जनित वेदना में ही सफलता निहित है। वेदना मानव में भूल नहीं रहने देती। भूल रहित होते ही समस्त दोष स्वतः नाश होते हैं। इस दृष्टि से वेदना विकास की भूमि है, पर यह बड़ी ही सजगतापूर्वक देखना है कि वेदना सुख-लोलुपता के लिये तो नहीं है। यदि नहीं है तो वेदना एकमात्र चिर-विश्राम, स्वाधीनता एवं प्रेम के लिये ही होगी जो प्राप्य है। वेदना का उपयोग कामनापूर्ति में करना अपने को आसक्तियों में आवद्ध करना है जो विनाश का मूल है। सुख-लोलुपता से उत्पन्न हुई व्यथा मानव को सुख की दासता अर्थात् पराधीनता में आवद्ध करती है। पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना वास्तविक जीवन से विमुख होना है जिसका मानव जीवन में कोई स्थान ही नही है। वास्तविक जीवन की माँग की पूर्ति अनिवार्य है। इतना ही नहीं मानव-जीवन की यह महिमा है कि प्रत्येक मानव वास्तविकता से अभिन्न हो सकता है। इस दृष्टि से वास्तविक जीवन

त्याज्य है। पराधीनता में जीवन नहीं है यह मानव-मात्र की अपनी अनुभूति है फिर भी उत्पन्न हुई परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि हो जाती है जो वास्तव में असत् का संग है। असत् का संग प्राकृतिक दोष नहीं है अपितु भूल-जनित है। असत् के संग के परिणाम से जब असह्य वेदना जाग्रत होती है तब मानव अपने आप भूल-रहित हो जाता है; कारण, कि वेदना भूल-रहित करने में समर्थ है। उत्पन्न हुए संकल्पों की पूर्ति तथा अपूर्ति का प्रभाव मानव को सुख की दासता तथा दुःख के भय में आबद्ध करता है। प्राकृतिक नियमानुसार दासता तथा भय किसी भी मानव को स्वभाव से प्रिय नहीं है और स्वाधीनता तथा निर्भयता सभी को स्वभाव से प्रिय है किन्तु उत्पन्न हुई वस्तु अवस्था आदि में वास्तविक जीवन नहीं है, इस वास्तविकता पर विचार न करने से पराधीनता में जीवन-बुद्धि उत्पन्न होती है जो अविचार सिद्ध है। अविचार का अन्त विचार से ही साध्य है। विचार की जाग्रति एकमात्र मूक-सत्संग से ही होती है। किसी अभ्यास से नहीं। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव वर्तमान में ही अविचार का अन्त करने के लिए तत्पर हो जाय।

निज अनुभव के अनादर से ही अविचार पोषित होता है, जो विनाश का मूल है। निज अनुभव के आदर का दायित्व मानव-मात्र पर है। अपने दायित्व को पूरा करने की स्वाधीनता वैधानिक तथ्य है। इस दृष्टि से दायित्व पूरा न करने में अपनी ही असावधानी है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। दायित्व पूरा करने में पराधीनता तथा असमर्थता स्वीकार करना प्राकृतिक दोष नहीं है, अपितु भूल-जनित है। यह स्पष्ट ही है कि भूल जाने हुए की ही होती है। अर्थात् जिसके सम्बन्ध में मानव कुछ नहीं जानता उसके भूलने की बात ही नहीं आती। अतः जाने हुए को ही भूलते हैं।

श्रम रहित होते ही आवश्यक स्मृति स्वतः जाग्रत होती है, यह प्राकृतिक तथ्य है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग में विस्मृति का नाश तथा स्मृति की जाग्रति निहित है। स्मृति अभ्यास नहीं है अपितु अनन्त की देन अर्थात् स्वतः सिद्ध है। जो स्वतः सिद्ध है उसी में जीवन है। इस कारण अखण्ड स्मृति में ही जीवन है। स्मृति दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं रहने देती। दूरी के नाश में योग और भेद के अन्त में बोध एवं भिन्नता के अभाव में अगाध-प्रियता निहित है। योग, बोध तथा प्रेम जिसमें अभिव्यक्त होता है, उसे अपने से अभिन्न कर लेता है और जिसके प्रति होता है उससे भी किसी प्रकार का भेद नहीं रहने देता। इतना ही नहीं, जिसकी जीवन में माँग है, योग, बोध, प्रेम उसी का स्वभाव है। प्रत्येक मानव अपनी वास्तविक माँग से परिचित हो सकता है, परन्तु असत् के संग के कारण काम को ही माँग मान लेता है। यद्यपि काम की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की जाग्रति ही मानव की स्वाभाविक माँग है परन्तु असत् के संग के प्रभाव से माँग की विस्मृति और काम की उत्पत्ति होती है और फिर मानव पराधीनता में आबद्ध हो जाता है।

की अभिव्यक्ति, विचार का उदय एवं प्रीति की जाग्रति निहित है। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति में ही असमर्थता का नाश है। असमर्थता का नाश होते ही दोषों की उत्पत्ति तथा गुणों का अभिमान शेष नहीं रहता। गुण-दोष रहित होते ही परिच्छिन्नता स्वतः नाश हो जाती है और फिर असीम, अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन से अभिन्नता होती है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग में ही वास्तविक जीवन निहित है।

उत्पन्न हुई वस्तु अवस्था परिस्थितियों का आश्रय मानव को पराधीनता में आवद्ध रखता है। यह मानव-मात्र का अपना अनुभव है। इस अनुभव का आदर करते ही अनुत्पन्न हुए नित्य-जीवन की माँग स्वतः जाग्रत होती है। विचारशील मानव इस स्वाभाविक माँग से निराश नहीं होते। इस माँग की पूर्ति पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने पर सम्भव नहीं है अर्थात् सर्वदा असम्भव है। इस कारण नित्य-जीवन की अभिव्यक्ति स्वाधीनता में ही निहित है। स्वाधीनता की प्राप्ति में मानव सर्वदा स्वाधीन है, पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के वास्तविक तथ्य को अनुभव कर लेता है। प्रवृत्ति की वास्तविकता प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में है। अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान मानव को काम रहित नहीं होने देता इसी का यह परिणाम होता है कि मानव पराधीनता में ही जीवन मान लेता है और अपने इस अनुभव का अनादर कर बैठता है कि जब प्राप्त परिस्थिति ही जीवन नहीं है तो अप्राप्त परिस्थिति से कैसे जीवन मिलेगा। किन्तु परिस्थितियों की दासता निज अनुभव के अनादर में हेतु है। परिस्थितियों की दासता से रहित होने के लिये यह अनिवार्य है कि मानव आई हुई सहज निवृत्ति को अपनाये अर्थात् इस वैधानिक

तथ्य में अविचल आस्था करे कि प्रत्येक कार्य के आरम्भ से पूर्व और कार्य के अन्त में जो सहज निवृत्ति है वह अपने लिये उपयोगी है, उसमें जीवन है।

प्रवृत्ति की वास्तविकता दूसरों के अधिकारों की सुरक्षा में है। प्रवृत्ति से अपने को कुछ मिल सकता है, अथवा वह अपने लिये उपयोगी हो सकती है, यह भ्रान्ति है। इस भ्रान्ति का अन्त मूक-सत्संग से ही होता है; कारण, कि भ्रान्ति का मूल असत् का संग है और कुछ नहीं। दूसरों के अधिकार सुरक्षित होने से परस्पर संघर्ष का नाश, सुन्दर समाज का निर्माण और आवश्यक संकल्पों की पूर्ति होती है। किन्तु वास्तविक जीवन का अभिलाषी संकल्प-पूर्ति का सुख नहीं भोगता। संकल्प-पूर्ति जीवन का वह भाग है जो मानव को क्षणिक संतोष देता है पर पराधीनता से रहित नहीं करता। पराधीनता के रहते हुए मानव अपनी दृष्टि में अपने को न तो आदर के योग्य पाता है और न वास्तविक सन्तुष्टि ही होती है। इतना ही नहीं मानव अपने में अपना कुछ मूल्य ही नहीं पाता। केवल परिस्थितियों की दासता में ही आबद्ध रहता है। अपना मूल्य न रहने से ही परिस्थितियों में महत् बुद्धि उत्पन्न होती है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक परिस्थिति सतत् परिवर्तनशील है, तो फिर परिस्थिति जीवन कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती। परिस्थितियों के सदुपयोग का महत्त्व है, परिस्थिति का नहीं। इस

सुख दुःख के सदुपयोग में ही प्रवृत्ति तथा निवृत्ति की सार्थकता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति पथ हैं, जीवन नहीं। अथवा यों कहो कि वास्तविक जीवन तक पहुँचने के लिए दायें-बायें पैर के समान हैं। इतना ही नहीं जिस प्रकार दिन-रात अपने आप आते जाते हैं, उसी प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति अपने आप आती जाती हैं। मूक-सत्संग में प्रवृत्ति और निवृत्ति के सदुपयोग की सामर्थ्य विद्यमान है। उसकी अभिव्यक्ति होने पर ही मानव सर्वांश में पराधीनता से रहित होता है। स्वाधीन होते ही नित्य-योग, नित्य-जीवन एवं नित्य-रस की अभिव्यक्ति होती है जो सभी को स्वभाव से प्रिय है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति और निवृत्ति का सदुपयोग अनिवार्य है जो उदारता तथा विरक्ति से ही सम्भव है अर्थात् उत्पन्न हुई परिस्थितियों में जीवन नहीं है इस अनुभव से ही उदारता तथा विरक्ति की अभिव्यक्ति होती है। मूक-सत्संग से स्वतः परिस्थितियों से असंगता हो जाती है; कारण, कि विश्राम में पराश्रय नहीं है। विश्राम अपने लिये उपयोगी है और आवश्यक प्रवृत्ति द्वारा पर-सेवा होती है किन्तु सेवा का भाव स्वाधीन मानव में ही अभिव्यक्त होता है। सेवा कर्म नहीं है, अपितु सर्व-हितकारी सद्भावना है। भावना का क्रियात्मक रूप परिस्थिति के अनुरूप होता है, पर भावना वास्तविकता से पोषित होती है। सेवा का क्रियात्मक रूप सीमित और भावात्मक रूप असीम होता है। सीमित क्रिया असीम भाव को सजीव और असीम भाव सीमित क्रिया को शुद्ध करता है। अर्थात् कर्म की शुद्धि सद्भावना से और सद्भावना में सजीवता परिस्थिति के अनुरूप प्रवृत्ति से होती है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का उद्गम अपने ही में है। यदि मानव अपने को मूक-सत्संग द्वारा असत् के संग से रहित कर ले तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक सर्व-हितकारी प्रवृत्ति उदित

होती है तथा सहज प्रवृत्ति सजीव होती है जो नित्य-योग से अभिन्न करने में समर्थ है। जब तक मानव प्रवृत्ति के द्वारा अपने सुख-सम्पादन का प्रयास करता है, तब तक सर्व-हितकारी सद्भावना जाग्रत ही नहीं होती, जिसके बिना जाग्रत हुए प्राप्त परिस्थितियों का सदुपयोग सम्भव नहीं है। परिस्थितियों के सदुपयोग के बिना न तो मानव परिस्थितियों से अतीत वास्तविक जीवन से अभिन्न होता है और न अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से ही रहित हो पाता है। इतना ही नहीं, व्यर्थ-चिन्तन के कारण प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास ही होता रहता है, जो विनाश का मूल है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक मानव में प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य विद्यमान है, पर व्यर्थ-चिन्तन में आबद्ध हो जाने से मानव परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर पाता। यह असमर्थता प्राकृतिक दोष नहीं है, अपितु भूलजनित है। इस कारण इस असमर्थता का नाश हो सकता है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

जब मानव परिस्थितियों के आश्रित अपना मूल्यांकन करता है, तब वह दीनता तथा अभिमान की अग्नि में दग्ध होता रहता है। दीनता तथा अभिमान में आबद्ध मानव अपने लिये, जगत् के लिये तथा अपने निर्माता के लिये अनुपयोगी ही सिद्ध होता है। इस कारण दीनता तथा अभिमान से रहित होना अनिवार्य है। परिस्थितियों से अतीत के जीवन में अविचल आस्था बिना किये समता के साम्राज्य में प्रवेश सम्भव नहीं है और समता के बिना मानव सर्वांश में दीनता तथा अभिमान से रहित नहीं हो सकता।

जीवन की माँग मानव में है। परिस्थितियों में जीवनवुद्धि

किन्तु परिस्थितियों में नित्यता नहीं है। इस दृष्टि से परिस्थिति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना अपने ही द्वारा अपने को धोखा देना है जो विनाश का मूल है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि न रहने पर परिस्थितियों से अतीत के जीवन में आस्था अथवा उसकी खोज स्वतः होती है। परिस्थितियों से अतीत के जीवन की खोज एकमात्र मूक-सत्संग से होती है, किसी अन्य प्रयोग से सम्भव नहीं है; कारण, कि नित्य-जीवन की प्राप्ति के लिये किसी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य की अपेक्षा नहीं है अपितु यह विश्राम से ही साध्य है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि मूक-सत्संग से परिस्थितियों से अतीत के जीवन की प्राप्ति होती हैं। मूक-सत्संग में आस्तिक की शरणागति और अध्यात्मवादी की असंगता एवं भौतिकवादी की कर्तव्य-परायणता निहित है। मूक-सत्संग अकर्मण्यता, जड़ता एवं अभाव में आबद्ध नहीं होने देता, अपितु कर्तव्यपरायणता, चिन्मयता, एवं पूर्णता से अभिन्न करता है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि स्वीकार नहीं करता तथा वास्तविक जीवन से निराश नहीं होता।

प्रत्येक मानव अपने में आसक्ति तथा आवश्यकता अनुभव करता है। आसक्ति उसकी, जिसकी प्रतीति है और आवश्यकता उसकी जिसे देखा नहीं है। आसक्तियों के नाश में ही आवश्यकता की पूर्ति निहित है। यह वैधानिक तथ्य है। जो मानव आसक्ति-जनित कामनाओं को ही आवश्यकता मान लेता है वह किसी भी प्रकार अपने को परिस्थितियों की दासता से रहित नहीं कर पाता अर्थात् अपने को उसकी दासता में आबद्ध कर लेता है जिसका स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं है। परिस्थितियों के आश्रय तथा प्रकाशक की आवश्यकता मानव की अपनी आवश्यकता है। अतः यह स्पष्ट ही

है कि आवश्यकता उसकी है, जिसे देखा नहीं और आसक्ति उसकी है, जिसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। आसक्ति और आवश्यकता जिसमें है वह न तो वह है जिसकी प्रतीति है और न वह है जिसकी आवश्यकता है अपितु देखे हुए तथा बिना देखे हुए को आसक्ति और आवश्यकता के रूप में जो अपने में आरोप करता है, वह मानव है अर्थात् जिसमें आसक्ति और आवश्यकता है, क्या उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व हो सकता है? जिसका स्वतंत्र अस्तित्व होता है, क्या वह देखे हुए अथवा न देखे हुए दो विरोधी सत्ताओं से सम्बन्ध रख सकता है? कदापि नहीं। दो विरोधी सत्ताओं से वही सम्बन्ध रख सकता है, जिसका अपना कोई अस्तित्व न हो। जिसका अपना कोई अस्तित्व होता है वह किसी से अभिन्न नहीं हो सकता। इस दृष्टि से मानव का यद्यपि कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, परन्तु वह आसक्ति के रूप में जगत् की ओर आवश्यकता के रूप में जगत् के प्रकाशक को स्वीकार करता है। आसक्ति भूल-जनित होने के कारण नाश होती है और आवश्यकता वास्तविक होने के कारण पूरी होती है। आसक्ति की निवृत्ति और आवश्यकता की पूर्ति में विकल्प करना भारी भूल है। प्राकृतिक नियमानुसार भूल का कोई अस्तित्व नहीं होता। केवल प्राप्त विवेक का अनादर ही भूल है। विवेक रूपी प्रकाश मानव-मात्र को प्राप्त है। मूक-सत्संग से बड़ी ही सुगमतापूर्वक निज-विवेक का आदर मानव कर सकता है; कारण, कि मूक-सत्संग से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है, यह प्राकृतिक तथ्य है। इस दृष्टि से निज विवेक का आदर मूक-सत्संग से ही सम्भव है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होगा जब मानव आसक्ति की निवृत्ति और आवश्यकता की पूर्ति से निराश न हो।

यह कैसी विलक्षणता है कि आसक्ति और आवश्यकता, एक ही में मौजूद हैं। आसक्ति आवश्यकता को शिथिल भले ही करे, पर उसका नाश नहीं कर सकती, किन्तु आवश्यकता की पूर्ण जाग्रति आसक्ति के नाश में हेतु है। आवश्यकता की पूर्ण जाग्रति तभी सम्भव होती है जब आसक्ति-जनित प्रवृत्ति न रहे। आसक्ति-जनित प्रवृत्ति का अन्त करने के लिये प्रवृत्ति के आदि और अन्त में निवृत्ति अर्थात् विश्राम को सुरक्षित रखना अनिवार्य है, जो वास्तव में मूक-सत्संग है।

विश्राम में जीवन है, यह अनुभव होने पर प्रवृत्तियों का राग स्वयं नाश हो जाता है और आवश्यक प्रवृत्ति स्वतः होती है। प्रवृत्तियों के राग से रहित होने पर कर्तव्यपरायणता स्वतः आ जाती है। विश्राम मानव को अकर्मण्य नहीं बनाता अपितु कर्तव्य-निष्ठ बनाता है, तथा उसकी कर्तव्य में फलासक्ति नहीं रहती; कारण, कि अहंकृति रहित होने में जो जीवन है वह किसी भी प्रवृत्ति से साध्य नहीं है। आलस्य तथा अकर्मण्यता के लिये तो मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। आवश्यक कार्य की पूर्ति और अनावश्यक कार्य की निवृत्ति अनिवार्य है। आवश्यक कार्य करने में मानव सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। पर अनावश्यक कार्य का त्याग बिना किये आवश्यक कार्य की पूर्ति सम्भव नहीं है। अनावश्यक कार्य का चिन्तन मानव को असमर्थ बनाता है। असमर्थता के कारण आवश्यक कार्य की पूर्ति में पराधीनता अनुभव होती है। इस कारण सामर्थ्य तथा विवेक-विरोधी कार्य का त्याग अत्यन्त आवश्यक है, जिसके करते ही आवश्यक कार्य की पूर्ति प्राकृतिक नियमानुसार स्वतः होने लगती है; कारण, कि अनावश्यक कार्य की निवृत्ति तथा आवश्यक कार्य की पूर्ति युगपद होते हैं। आवश्यक कार्य पूरा करने पर

अहंकृति रहित होना प्राकृतिक तथ्य है। पर कार्य-जनित सुख-लोलुपता के कारण मानव कार्य के अन्त में भी कार्य का चिन्तन ही करता रहता है, जो वास्तव में प्रमाद है। कार्य का चिन्तन यह सिद्ध करता है कि कर्त्ता में कोई दोष है। जो करना है उसका चिन्तन अपेक्षित नहीं है; कारण, कि कर्त्ता में वह विद्यमान है जो उसे करना है अर्थात् कार्य कर्त्ता का ही चित्र हैं। फलासक्ति रहित होते ही कार्य के अन्त में कर्त्ता स्वयं नित्य-योग से अभिन्न होता है। यह वैधानिक तथ्य है। यदि कार्य के अंत में नित्य-योग की अभिव्यक्ति नहीं हुई तो यह मानना होगा कि आवश्यक कार्य पूरा नहीं किया अथवा अनावश्यक कार्य का त्याग नहीं किया। कार्य का आश्रय ही मानव को परिच्छिन्नता में आबद्ध रखता है। परिच्छिन्नता के रहते हुए वास्तविकता से दूरी, भेद तथा भिन्नता रहती है। परिच्छिन्नता का अन्त करने के लिये विश्राम अनिवार्य है। किसी न किसी श्रम के आश्रय से ही परिच्छिन्नता जीवित रहती है। श्रम-रहित होते ही परिच्छिन्नता शेष नहीं रहती और फिर स्वतः योग, बोध एवं प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जो वास्तविक जीवन है।

अहंकृति रहित हुए बिना देहाभिमान नाश नहीं होता। देहाभिमान के रहते हुए निष्कामता नहीं आती और निष्कामता के बिना न तो परम शान्ति ही प्राप्त होती है, न स्वाधीनता ही मिलती है और न प्रीति की ही जागृति होती है। कामना-युक्त मानव तो पराधीनता, अशान्ति एवं आसक्तियों में ही आबद्ध रहता

का त्याग किये विना कर्त्तव्यपरायणता सिद्ध नहीं होती। कर्त्तव्य-परायणता सिद्ध होने पर कर्त्ता स्वयं अहंकृति रहित होता है जो वास्तव में मूक-सत्संग है। इस दृष्टि से कर्तव्य का अन्त सत्संग में ही निहित है। फलासक्ति तथा अनावश्यक कार्यों का त्याग न करना असत् का संग है; कारण, कि किसी भी कर्म का फल मानव को अमरत्व से अभिन्न नहीं कर सकता। इस कारण फलासक्ति का त्याग अनिवार्य है। नित्य-योग में ही नित्य-जीवन निहित है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

असत् के त्याग में सत् का संग निहित है और सत् के संग से असत् का त्याग स्वतः हो जाता है। इस कारण असत् का त्याग स्वतः अथवा सत् का संग जो अपने को सुलभ प्रतीत हो वही करना है। करने में करने का अन्त स्वतः सिद्ध है। यही करने की सार्थकता है। करने से करने का जन्म होता रहे, यह वस्तुस्थिति प्रमाद-जनित है। यदि करने की सार्थकता करने ही में होती तो करने से ही नित्य-जीवन प्राप्त होता पर ऐसा अनुभव नहीं है। अतः करने की पूर्णता अहंकृति रहित होने में ही है जो वास्तव में मूक-सत्संग है।

अध्यात्मवाद की दृष्टि से अपने पर अपने जाने हुए का प्रभाव अनिवार्य है। अर्थात् निज-ज्ञान का आदर ही अध्यात्मवादी का परम-पुरुषार्थ है। निज-ज्ञान का आदर करते ही निर्ममता, निष्कामता एवं असंगता स्वतः प्राप्त होती है, जिसके होते ही अहं-कृति शेष नहीं रहती। अतः विचार की पूर्णता भी मूक-सत्संग में ही निहित है। यह स्पष्ट ही है कि निर्ममता से निर्विकारता और निष्कामता से परम-शान्ति तथा असंगता से स्वाधीनता स्वतः प्राप्त होती है। किन्तु निर्विकारता, परम-शान्ति एवं स्वाधीनता का आश्रय अहम्भाव-रूपी अणु को जीवित रखता है। असत् के संग से

उत्पन्न हुई ममता, कामना एवं तादात्म्य से मानव जड़ता, पराधीनता आदि दोषों में आबद्ध होता है। असत् का त्याग करते ही दोषों का नाश तथा निर्विकारता, परम-शान्ति, स्वाधीनता आदि दिव्य-गुणों की अभिव्यक्ति होती है। समस्त दोष भूल-जनित और दिव्य-गुण प्राकृतिक हैं। गुण-दोष के आश्रय से ही अहम् भाव जीवन पाता है। अहम् का अन्त करने के लिये यह अनिवार्य है कि मानव भूल-जनित दोषों की निवृत्ति और गुणों के अभिमान से रहित हो जाय, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है। यद्यपि दिव्य-गुण अविनाशी हैं परन्तु उनके आश्रय से सीमित अहम् भाव को जीवित रखना असत् का ही संग है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव सर्वांश में असत् के संग से रहित हो जाय। विचार-पथ की दृष्टि से निर्मम, निष्काम एवं असंग होना अनिवार्य है परन्तु अपने में निर्ममता, निष्कामता एवं असंगता को आरोपित करना प्रमाद ही है जिसकी निवृत्ति अहंकृति रहित होने से ही होती है, जो वास्तव में मूक-सत्संग है। ममता, कामना और तादात्म्य भूल-जनित हैं। वास्तविक नहीं। भूल-रहित होना ही अध्यात्मवाद की दृष्टि से परम-पुरुषार्थ है। भूल को भूल अनुभव करना ही भूल-रहित होने का उपाय है। प्राप्त विवेक के प्रकाश में ही भूल का अनुभव होता है। पर जब तक मानव इन्द्रिय तथा बुद्धि के दृष्टि-व्यापार में ही रमण करता है, तब तक प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपनी वर्तमान वस्तु-स्थिति को नहीं अनुभव कर पाता। बस यही भूल का मूल है। इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि के व्यापार से विमुख होकर श्रम-रहित होते ही, निज-विवेक का प्रभाव स्वतः होता है और फिर मानव बड़ी सुगमतापूर्वक भूल-रहित हो जाता है जो विकास का मूल है।

अहंकृति के रहते हुए कोई भी मानव इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से विमुख नहीं हो सकता और उसके बिना हुए निज विवेक का आदर तथा प्रभाव सम्भव नहीं है। यह वैज्ञानिक तथ्य है कि दृष्टि और दृश्य प्रकाश के ही आश्रित हैं, परन्तु दृष्टि और दृश्य के प्रभाव से प्रभावित मानव, प्रकाश से विमुख हो जाता है। यद्यपि निज विवेक का प्रकाश मानव-मात्र को नित्य प्राप्त है, किन्तु दृष्टि और दृश्य के तादात्म्य के कारण मानव उसका आदर नहीं करता। निज विवेक का अनादर ही मूल भूल है। उसका अन्त करना प्रत्येक मानव के लिये अनिवार्य है जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही सम्भव है।

मूक-सत्संग के बिना दृश्य और दृष्टि का तादात्म्य नाश नहीं होता और उसके बिना हुए निर्ममता, निष्कामता एवं असंगता सिद्ध नहीं होती। यदि बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव से मानव अपने को निर्मम, निष्काम एवं असंग स्वीकार करे और निर्विकारता, परम-शान्ति एवं स्वाधीनता में सन्तुष्ट हो जाय तो भी अहम्‌भाव का अन्त नहीं होता; कारण, कि बुद्धि का आश्रय शेष रहता है। निराश्रय बिना हुए अहम्-भाव रूपी अणु का नाश नहीं होता। इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव से रहित होने में बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव उपयोगी है, पर परिच्छिन्नता का अन्त करने में बुद्धि-दृष्टि उपयोगी सिद्ध नहीं होती। अहंकृति रहित होने पर ही बुद्धि-दृष्टि सम होती है जो वास्तव में मूक-सत्संग है। दृष्टि के सम होते ही दृश्य और दृष्टि अपने उद्‌गम से अभिन्न होती हैं। बस यही अध्यात्म जीवन की पूर्णता है। अतः अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से भी मूक-सत्संग उपयोगी है। मूक-सत्संग मानव को किसी स्थिति में आबद्ध नहीं करता, अपितु सभी से असंग करता है। असंगता में ही अभिन्नता

निहित है। यह वैधानिक तथ्य है। असंगता उसे जो असंग हुआ है, अविनाशी से अभिन्न करती है। अर्थात् असंगता मानव को योग, बोध तथा प्रेम प्रदान करती है। दूरी, भेद तथा भिन्नता का नाश असंगता से स्वतः हो जाता है और अहंकृति रहित होते ही असंगता की स्वतः अभिव्यक्ति होती है अर्थात् जिसे अपने लिए कुछ नहीं करना है, उसका किसी से तादात्म्य नहीं रहता। तादात्म्य का नाश और असंगता युगपद होते हैं। अतः अहंकृति रहित होना अनिवार्य है जो विकास की भूमि है।

आस्थावान मानव के लिये भी मूक-सत्संग अपेक्षित है; कारण, कि आस्था, श्रद्धा, विश्वास मानव को शरणागति की प्रेरणा देता है। शरणागति कोई अभ्यास नहीं है अपितु आस्थावान का अन्तिम प्रयास है। प्राकृतिक नियमानुसार आस्था जिसमें उदित होती है उसमें आस्थास्पद की अविचल श्रद्धा तथा विश्वास जाग्रत करती है, यह आस्था की महिमा है। आस्था सदैव उसी के प्रति होती है कि जिसकी आवश्यकता तो हो पर जिसे देखा न हो अर्थात् जो इन्द्रिय तथा बुद्धिगोचर नहीं है, किन्तु बीज रूप से जिसकी माँग है, उसी में अविचल आस्था होती है। विचार पथ से मानव काम रहित होता है। निष्काम होते ही देखे हुए का प्रभाव शेष नहीं रहता और फिर मानव बड़ी ही सुगमतापूर्वक उसमें आस्था करता है जिसे देखा नहीं है अपितु सुना है। जो मिला है, जिसे देखा है, उसमें अविचल आस्था नहीं हो सकती; कारण, कि मिला हुआ सदैव नहीं रहता और समस्त दृश्य सतत् परिवर्तनशील है। अतएव मिले हुए तथा देखे हुए में आस्था नहीं रह सकती। हाँ, मिले हुए का सदुपयोग और देखे हुए के प्रति जिज्ञासा हो सकती है। आस्था केवल उसी में होती है जो इन्द्रियगोचर नहीं है किन्तु

जिसकी स्वभाव से ही माँग है। अपनी माँग के बोध में आस्था निहित है। जिस प्रकार काम दृश्य से सम्बन्ध जोड़ देता है उसी प्रकार माँग आस्थास्पद में आत्मीयता जाग्रत करती है। दृश्य की प्रतीति है, उसके प्रति प्रवृत्ति है, किन्तु प्राप्ति नहीं है। श्रमित मानव को विवश होकर विश्राम अपनाना अनिवार्य है, यह प्राकृतिक तथ्य है। विश्राम में ही आस्थास्पद की अखंड स्मृति निहित है। स्मृति और व्यर्थचिन्तन में एक भेद है—व्यर्थचिन्तन के मूल में भूल रहती है और स्मृति भूलरहित है; कारण, कि स्मृति नित्य-प्राप्त में आत्मीयता प्रदान करती है और व्यर्थचिन्तन जो नहीं है, अथवा जो मिला है उसकी आसक्ति में आबद्ध करता है। अर्थात् व्यर्थचिन्तन देहाभिमान में तथा अभाव में आबद्ध कर देता है। इतना ही नहीं. व्यर्थचिन्तन की उत्पत्ति भी देहाभिमान से ही होती है। पर अखंड स्मृति की जाग्रति अविचल आस्था में ही निहित है। आस्था किसी अभ्यास से सजीव नहीं होती। जिसमें आस्था है उसमें किसी प्रकार का दोष दर्शन नहीं होता; कारण, कि उसे बुद्धि-दृष्टि से देखा नहीं जाता। जो परम-तत्व बुद्धि की सीमा में आबद्ध नहीं है, उसमें दोष दर्शन के लिये कोई स्थान ही नहीं है। हाँ, कोई उसमें आस्था करे अथवा न करे, यह वैधानिक स्वाधीनता मानव-मात्र को प्राप्त है। पर आस्था न करने पर भी जो अपने हैं, उन्हें इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता। जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की सीमा से परे है, अर्थात् असीम है उसकी शरणागति ही उसकी प्रियता तथा प्राप्ति में हेतु है, अहंकृति रहते हुए शरणागति सिद्ध नहीं होती। आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक अपने को समर्पण करने ही में शरणागति निहित है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग से ही शरणागति

सजीव होती है। अहम् के समर्पण में ही अहम् का नाश है। अहम् और मम् का नाश ही वास्तविक शरणागति है। शरणागत में शरण्य की अगाधप्रियता स्वतः जाग्रत होती है। प्रियता की जाग्रति में ही जीवन की पूर्णता निहित है। अतः आस्था के पथ में भी मूक-सत्संग अपेक्षित है। अहम् का नाश किसी कृति से साध्य नहीं है, अपितु अहंकृति रहित होने से ही अहम् का नाश होता है, यह वैज्ञानिक तथ्य है। यद्यपि आस्था तथा आवश्यकता के आधार पर मानव शरणागत होने का निर्णय करता है, पर कृति का आश्रय रख कर शरणागत नहीं हो सकता, यह ध्रुव सत्य है। जिसे अपने लिये कुछ भी करना है भला वह अपने को कैसे समर्पित कर सकता है ? और जो अपने को समर्पित नहीं कर सकता वह भला शरणागत कैसे हो सकता है ? शरणागत विना हुए शरण्य की अगाधप्रियता कैसे मिल सकती है ? कदापि नहीं। अगाध-प्रियता के विना नीरसता का सर्वांश में नाश सम्भव नहीं है। नीरसता की भूमि में ही काम की उत्पत्ति होती है। अतः निष्कामता के लिए नीरसता का नाश अनिवार्य है, जो एकमात्र अगाधप्रियता से ही साध्य है। प्रियता अपने में होती है। यह स्पष्ट ही है कि 'जो मिला है' और 'जो दिखाई देता है,' वह व्यक्तिगत् अर्थात् अपना नहीं है। उसका आश्रय और प्रकाशक जो है उसे देखा नहीं है, किन्तु आश्रय तथा प्रकाशक के विना उत्पत्ति तथा प्रतीति सम्भव नहीं है। अतः यह युक्ति-युक्त है कि उत्पन्न हुई वस्तुओं का जो आश्रय तथा प्रतीति का जो प्रकाशक है, उसी की मांग मानव की अपनी मांग है। अतएव उसमें अविचल आस्था करना अनिवार्य है। अविचल आस्था में श्रद्धा तथा विश्वास स्वतः अभिव्यक्त होता है। यह निर्विवाद सिद्ध है। अतः आस्थावान

मानव को भी शरणागत होने के लिये अपने को समर्पण करना होगा, जो एकमात्र अहंकृति रहित अर्थात् मूक-सत्संग से ही साध्य है। सर्व के प्रकाशक तथा आश्रय को अपना स्वीकार करना आस्था का पथ है। उसके होने में विकल्प न रहे यही, आस्था है। इस आस्था से उत्पन्न हुई वस्तुओं की ममता तथा कामना नाश होती है। आश्रय अपना है। उत्पन्न हुई वस्तु अपनी नहीं है। हाँ, उन्हीं के नाते मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का सदुपयोग करना है। मिले हुए के सदुपयोग में पराधीनता तथा असमर्थता की गंध भी नहीं है और जो अपना है उसमें आत्मीयता स्वीकार करने में भी मानव सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। अपने में अपनी प्रियता स्वभाव सिद्ध है, श्रम-साध्य नहीं। प्रियता में जीवन है, यह अनुभव-सिद्ध तथ्य है। इस कारण आस्था का पथ भी स्वतंत्र पथ है। मानव को साधन निष्ठ होने में स्वाधीनता है, परन्तु साधन-निष्ठ होने के लिए एकमात्र मूक-सत्संग ही सर्वोत्कृष्ट उपाय है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव अपनी वर्तमान वस्तु-स्थिति से भली भाँति परिचित हो जाय। जब मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि से नित्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है तब प्रकाशक तथा आश्रय में आस्था न करना भारी भूल है। इस भूल का अंत आस्थावान साधक को वर्तमान में करना अनिवार्य है। मिले हुए की ममता ने अप्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि की कामना में मानव को आबद्ध किया है और इसी से व्यर्थचिन्तन उत्पन्न होता है। व्यर्थचिन्तन के रहते हुए बलपूर्वक सार्थक-चिन्तन करना अपने को मिथ्या अभिमान में आबद्ध रखना है। व्यर्थचिन्तन के नाश में ही सार्थक-चिन्तन की अभिव्यक्ति होती है। सार्थक-चिन्तन की जाग्रति इन्द्रियजन्य स्वभाव से मानव को मुक्त कर देती है

और फिर अपने आप देहाभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही वास्तविक जीवन से दूरी, भेद तथा भिन्नता शेष नहीं रहती अर्थात् स्वतः योग, बोध तथा प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। व्यर्थचिन्तन के नाश तथा सार्थक-चिन्तन की अभिव्यक्ति के लिए निर्ममता, निष्कामता पूर्वक सर्व के प्रकाशक में अविचल आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास आवश्यक है। प्राकृतिक नियमानुसार आस्था, श्रद्धा, विश्वास जिसमें अभिव्यक्त होता है उसमें उसकी आत्मीयता जाग्रत करता है जिसमें आस्था की है। आत्मीयता स्वभाव से ही अगाध-प्रियता में परिणत होती है। प्रियता में प्रियता से भिन्न कुछ नहीं है। प्रियता अपने प्रेमास्पद के लिये रसरूप है अर्थात् अगाधप्रियता से सर्व के आश्रय तथा प्रकाशक को रस मिलता है अर्थात् प्रियता से आनन्दघन भी आनन्दित होते हैं। यह प्रियता की महिमा है। जिस प्रकार प्रत्येक पौधे के लिये भूमि अनिवार्य है, उसी प्रकार प्रत्येक साधक के लिये मूक-सत्संग अनिवार्य है। साधक का पद मानव से भिन्न किसी अन्य प्राणी को नहीं मिल सकता अर्थात् मानव ही साधक है। न तो उत्पन्न हुआ शरीर साधक है और न अनुत्पन्न हुआ परम-तत्व साधक है। जिसमें उत्पन्न हुए शरीर की ममता और अनुत्पन्न हुए परम-तत्व की आस्था विद्यमान है, वह स्वयं शरीर तथा परम-तत्व नहीं है। उत्पन्न हुए शरीर आदि वस्तुओं की ममता भूल जनित है और अनुत्पन्न हुए अविनाशी जीवन की आस्था स्वभाव सिद्ध है। ममता और आस्था का पुंज मानव-जीवन है। ममता की निवृत्ति और आस्था की पूर्ति में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। ममता की निवृत्ति तथा आस्था की पूर्ति मूक-सत्संग से ही साध्य है; कारण, कि अहंकृति रहित होते ही देह से तादात्म्य नहीं रहता अर्थात् स्वतः असंगता

आबद्ध रहते हुए गाढ़ निद्रा नहीं होती अर्थात् जिस काल में मानव शारीरिक तथा मानसिक चेष्टा करता रहता है उस काल में गाढ़ निद्रा नहीं होती।

निद्रा की तैयारी में ही स्वभाव से मानव को कर्म तथा चिन्तन से अरुचि होती है। यह अनुभूति सिद्ध करती है कि मानव श्रम रहित विना हुए श्रमित काल की असमर्थता की व्यथा से रहित नहीं हो सकता। इस कारण जाग्रत और स्वप्न के अन्त में सुषुप्ति अनिवार्य है। सजगता पूर्वक कार्य में रत्त होना जाग्रत है। पर एक कार्य करते हुए अकस्मात् कभी-कभी किसी अन्य कार्य की (memory) याद आती है। वही जाग्रत का स्वप्न है अर्थात् अप्राप्त वस्तु आदि का चिन्तन होता है जो किसी को स्वभाव से प्रिय नहीं है। कार्य के अन्त में किसी अन्य कार्य का चिन्तन न हो तो अपने आप जाग्रत सुषुप्ति होती है। उस काल में मानव अपने को अकेला तथा श्रम-रहित पाता है। वही काल मूक-सत्संग के लिये सर्वोत्कृष्ट है। पर यह तभी सम्भव होगा जब मानव प्रत्येक कार्य के अन्त में कार्य रहित होकर ही अन्य कार्य का आरम्भ करे।

कार्य रहित होकर अन्य कार्य का आरम्भ करने से पूर्व, पूर्व-कृत-कार्य का स्पष्ट परिचय होता है और भावी कार्य सम्बन्धी ज्ञान का भी प्रादुर्भाव होता है। यह वैधानिक तथ्य है। इस विधान का आदर करने के लिये प्रत्येक कार्य के अन्त में मूक-सत्संग अनिवार्य है। गाढ़ निद्रा में प्रवेश करने के लिये मानव स्वतः सब ओर से विमुख होता है। यदि उसी समय निद्रा से पूर्व शान्त हो जाय तो मूक-सत्संग हो जाता है, जिसके होते ही आगे पीछे का चिन्तन उत्पन्न होता है, जिससे मानव अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति का परिचय पाता है और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक जो नहीं करना चाहिए

उसके न करने का निर्णय कर सकता है, जिसके करते ही मानव वर्तमान निर्दोषता से अभिन्न होता है जो विकास की भूमि है।

शरीर का तादात्म्य मानव को जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में आबद्ध रखता है। पर मूक-सत्संग से अवस्थातीत जीवन में प्रवेश होता है। पर यह रहस्य तब तक स्पष्ट नहीं होता जब तक मानव प्रयत्न रहित होकर शान्त न हो जाय। प्रयत्न रहित होने में पराधीनता तथा असमर्थता नहीं है अपितु अप्रयत्न स्वभाव सिद्ध तथ्य है। कर्मासक्ति प्रमाद से उत्पन्न होती है। किसी भी मानव को अपने लिये कुछ नहीं करना है। देहाभिमान के कारण करने की रुचि उत्पन्न होती है जो अविवेक सिद्ध है। देह की प्रतीति और अपना भास मानव को स्वतः होता है। अपने ही में जीवन की माँग है, देह में नहीं। देह की जातीय एकता समस्त सृष्टि से है। इसी कारण प्रत्येक उत्पन्न हुई वस्तु सदैव सृष्टि में ही रहती है। शरीर का सृष्टि से विभाजन नहीं हो सकता और अपना शरीर से नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता। जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता, उसके आश्रय का त्याग सहज तथा स्वाभाविक है। पर निज-अनुभव का अनादर करने से शरीर के आश्रय का त्याग असम्भव प्रतीत होता है जो, वास्तव में भ्रान्ति है। इस भ्रान्ति का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है। जिस प्रकार शरीर की समस्त दृश्य से एकता है, उसी प्रकार मानव की अविनाशी जीवन अर्थात् सत् से अपनी एकता है। इसी कारण अपने द्वारा सत् का संग होता है, उसके लिये शरीर की अपेक्षा नहीं है। अपने द्वारा कुछ भी करने की बात उत्पन्न ही नहीं होती। अतः न करने की स्थिति अपने द्वारा सिद्ध होती है। आश्रय स्वीकार करना अपना स्वभाव है। शरीर का आश्रय लेते ही अनन्त दोषों की